बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर

सम्पूर्ण वाङ्मय

खंड–14

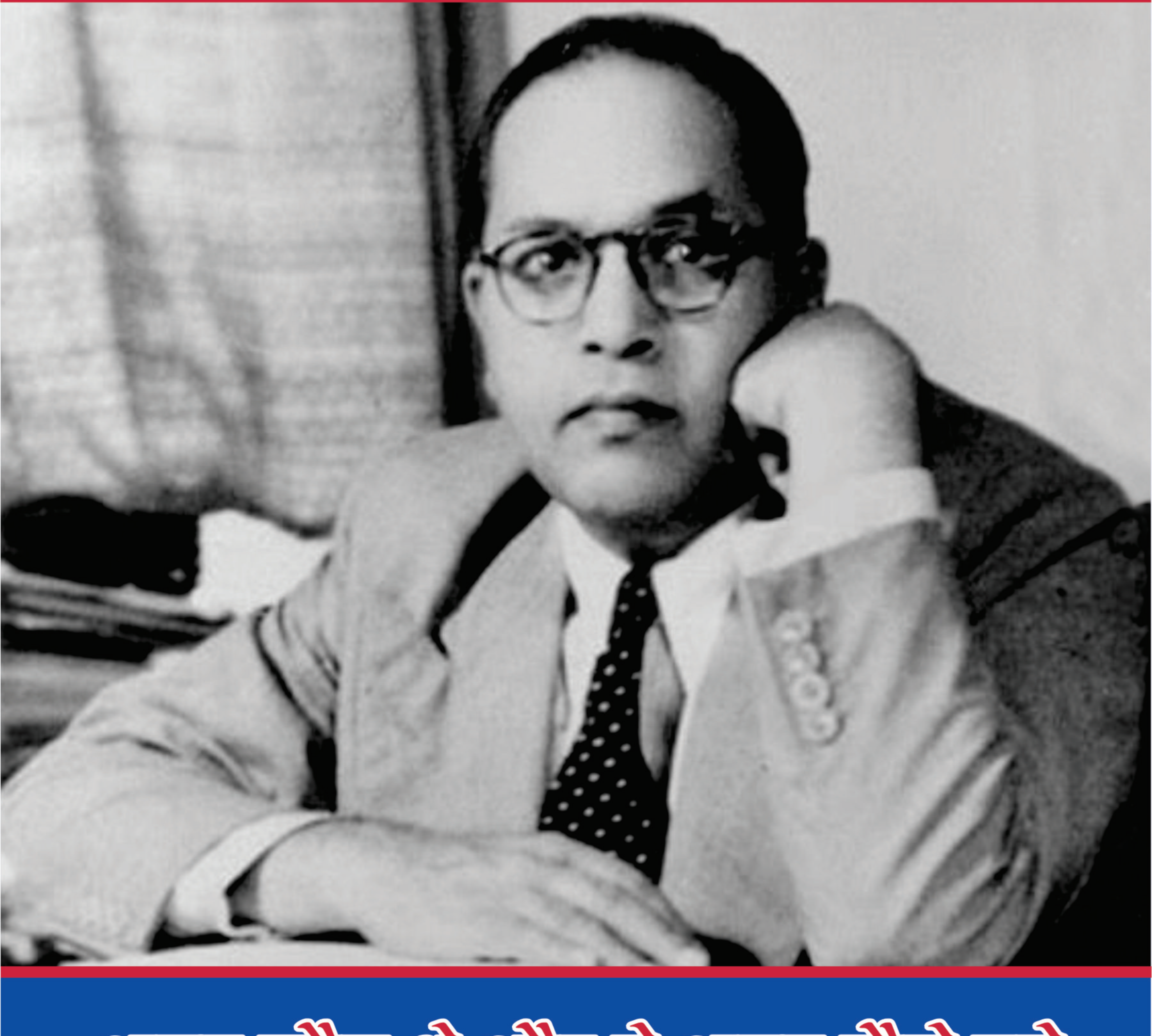

अछूत कौन थे और वे अछूत कैसे बने

बाबासाहेब डॉ. बी. आर. अम्बेडकर

जन्म : 14 अप्रैल, 1891 परिनिर्वाण 6 दिसंबर, 1956

बाबासाहेब

डॉ. अम्बेडकर

सम्पूर्ण वाङ्मय

खंड 14

डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय

खंड 14

अछूत कौन थे और वे अछूत कैसे बने

पहला संस्करण : 1998
दूसरा संस्करण : 2003
तीसरा संस्करण : 2013 (जनवरी)
चौथा संस्करण : 2013 (फरवरी)
पांचवां संस्करण : 2013 (अप्रैल)
छठा संस्करण : 2013 (जुलाई)
सातवां संस्करण : 2013 (अक्टूबर)
आठवां संस्करण : 2014 (फरवरी)
नौवां संस्करण : 2016
दसवां संस्करण : 2019 (जून)

ISBN : 978-93-5109-163-9

© सर्वाधिकार सुरक्षित

आवरण परिकल्पना : देबेन्द्र प्रसाद माझी

पुस्तक के आवरण पर उपयोग किया गया मोनोग्राम बाबासाहेब डॉ. बी. आर. अम्बेडकर के लेटरहेड से साभार

ISBN (सेट) : **978-93-5109-149-3**

खंड 1–21 सामान्य (पेपरबैक) के 1 सेट का मूल्य :

प्रकाशक :
डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान
15, जनपथ
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय
भारत सरकार, नई दिल्ली – 110 001

फोन : 011–23320588, 23320571
जनसंपर्क अधिकारी मोबाइल नं. 85880–38789
वेबसाइट :http://drambedkarwritings.gov.in
Email-Id :cwbadaf17@gmail.com

मुद्रक : अरावली प्रिंटर्स एंड पब्लिशर्स प्रा. लिमि., W-30 ओखला, फेज–2, नई दिल्ली–20

परामर्श सहयोग

डॉ. थावरचन्द गेहलोत
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्री
भारत सरकार
एवं
अध्यक्ष, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान

श्री रामदास अठावले
सामाजिक न्याय और अधिकारिता राज्य मंत्री

श्री कृष्णपाल गुर्जर
सामाजिक न्याय और अधिकारिता राज्य मंत्री

श्री रतनलाल कटारिया
सामाजिक न्याय और अधिकारिता राज्य मंत्री

श्रीमती नीलम साहनी
सचिव
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय
भारत सरकार

श्रीमती रश्मि चौधरी
संयुक्त सचिव
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार
एवं सदस्य सचिव, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान

श्री देबेन्द्र प्रसाद माझी
निदेशक
डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान

डॉ. बृजेश कुमार
संयोजक
बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर संपूर्ण वाङ्;मय
डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान

अंग्रेजी में सकंलन
श्री वसंत मून

अनुवादक
सीताराम खोड़ावाल

पुनरीक्षक
श्री उमराव सिंह

डॉ. थावरचन्द गेहलोत
DR. THAAWARCHAND GEHLOT
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्री
भारत सरकार
**MINISTER OF
SOCIAL JUSTICE AND EMPOWERMENT
GOVERNMENT OF INDIA**

कार्यालयः 202, सी विंग, शास्त्री भवन,
नई दिल्ली–110115
**Office : 202, 'C' Wing, Shastri Bhawan,
New Delhi-110115**
Tel. : 011-23381001, 23381390, Fax : 011-23381902
E-mail : min-sje@nic.in
दूरभाषः 011-23381001, 23381390, फैक्सः 011-23381902
ई-मेलः min-sje@nic.in

संदेश

स्वतंत्र भारत के संविधान के निर्माता बाबासाहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर जी बहुआयामी प्रतिभा के धनी थे । बाबासाहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर जी एक उत्कृष्ट बुद्धिजीवी, प्रकाण्ड विद्वान, सफल राजनीतिज्ञ, कानूनविद, अर्थशास्त्री और जनप्रिय नायक थे । वे शोषितों, महिलाओं और गरीबों के मुक्तिदाता थे। बाबासाहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर जी सामाजिक न्याय के लिये संघर्ष के प्रतीक हैं । बाबासाहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर जी ने सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक सभी क्षेत्रों में लोकतंत्र की वकालत की । एक मजबूत राष्ट्र के निर्माण में बाबासाहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर जी का योगदान अतुलनीय है ।

बाबासाहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर जी के लेख एवं भाषण क्रांतिकारी वैचारिकता एवं नैतिकता के दर्शन-सूत्र हैं। भारतीय समाज के साथ-साथ सम्पूर्ण विश्व में जहां कहीं भी विषमतावादी भेदभाव या छुआछूत मौजूद है, ऐसे समस्त समाज को दमन, शोषण तथा अन्याय से मुक्त करने के लिये डॉ. अम्बेडकर जी का दृष्टिकोण और जीवन-संघर्ष एक उज्ज्वल पथ प्रशस्त करता है । समतामूलक, स्वतंत्रता की गरिमा से पूर्ण, बंधुता वाले एक समाज के निर्माण के लिये बाबासाहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर जी ने देश की जनता का आह्वान किया था ।

बाबासाहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर जी ने अस्पृश्यों, श्रमिकों, महिलाओं और युवाओं को जो महत्वपूर्ण संदेश दिये, वे एक प्रगतिशील राष्ट्र के निर्माण के लिये अनिवार्य दस्तावेज हैं । तत्कालीन विभिन्न विषयों पर डॉ. अम्बेडकर जी का चिंतन-मनन और निष्कर्ष जितना उस समय महत्वपूर्ण था, उससे कहीं अधिक आज प्रासंगिक हो गया है। बाबासाहेब की महत्तर मेधा के आलोक में हम अपने जीवन, समाज राष्ट्र और विश्व को प्रगति की राह पर आगे बढ़ा सकते हैं। समता, बंधुता और न्याय पर आधारित बाबासाहेब डॉ; भीमराव अम्बेडकर जी के स्वप्न का समाज-**"सबका साथ सबका विकास"** की अवधारणा को स्वीकार करके ही प्राप्त किया जा सकता है।

मुझे यह जानकर अत्यंत प्रसन्नता हो रही है, कि सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय का स्वायत्तशासी संस्थान द्वारा, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, **"बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर : सम्पूर्ण वांग्मय"** के खण्ड 1 से 21 तक के संस्करणों को, बाबासाहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर जी के अनुयायियों और देश के आम जन-मानस की मांग को देखते हुये पुनर्मुद्रण किया जा रहा है ।

विद्वान पाठकगण इन खंडों के बारे में हमें अपने अमूल्य सुझाव से अवगत करायेंगे तो हिंदी में अनूदित इन खण्डों के आगामी संस्करणों को और बेहतर बनाने में सहयोग प्राप्त हो सकेगा।

9/7/19
(डॉ. थावरचन्द गेहलोत)

प्राक्कथन

भारत रत्न बाबासाहेब डॉक्टर भीमराव अम्बेडकर अप्रतिम प्रतिभा के धनी थे। वे सच्चे देशभक्त थे। उन्होंने देश की महान सेवा की। देश को कमजोर बनाने वाली समस्याओं को समझा और उनके कारणों को एक अन्वेशी के रूप में तह तक पहुंचकर जानने का अथक प्रयास किया। समाज में व्याप्त जाति व्यवस्था को वे प्रजातंत्र के लिए घातक मानते थे। वे वर्ण–व्यवस्था को, जाति व्यवस्था की जननी मानते थे। मनुष्य–मनुष्य के साथ अमानवीय व्यवहार करे, उसके साथ छुआछूत बरते, वह मनुष्य सभ्य नहीं कहा जा सकता, वह समाज जो इसकी आज्ञा दे वह समाज सभ्य नहीं कहा जा सकता। आज समाज की कुप्रथा को अवैध करार दे दिया गया है। बाबासाहेब के प्रयासों का ही परिणाम है।

बाबासाहेब डॉक्टर भीमराव अम्बेडकर के अंग्रेजी में प्रकाशित वाड्मय को हिन्दी के अतिरिक्त देश की अन्य 8 क्षेत्रीय भाषाओं में अनुदित किया जा रहा है।

मैं प्रतिष्ठान की ओर से माननीय, सामाजिक न्याय और अधिकारिता 'मंत्री' एवं सचिव, सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार का आभार व्यक्त करती हूँ जिनके सद्परामर्श एवं प्रेरणा से प्रतिष्ठान के कार्यों में अपूर्व प्रगति आई है।

प्रस्तुत हिन्दी खंड–14 में ''अछूत कौन थे और वे अछूत कैसे बने'' शोधपूर्ण रचना समाहित है। मानविकी के अध्येताओं लिए तो आधारभूत सामग्री है ही, साथ ही यह सामग्री समाज निर्माण के सुधी एवं सजग प्रहरियों के लिए चिंतन का आधार बनेगी। पाठकों के बहुमूल्य सुझावों की प्रतिक्षा बनी रहेगी।

नई दिल्ली

रश्मि चौधरी
सदस्य सचिव,
डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान

प्रकाशकीय

महाराष्ट्र सरकार द्वारा अंग्रेजी में प्रकाशित डॉ. बाबासाहेब अम्बेडकर, वाङ्मय का हिंदी एवं अन्य 8 क्षेत्रीय भाषाओं में डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा अनुवाद किया गया। इस अनूदित कार्य का सुधी पाठकों ने हृदय से स्वागत किया है।

हमें प्रसन्नता है कि हम अपने पाठकों के समक्ष खंड 14 हिंदी में समर्पित कर रहे है।

प्रस्तुत खंड में ''अछूत कौन थे और वे अछूत कैसे बने'' में शोधपूर्ण सामग्री समाहित की गई है। बाबासाहेब अम्बेडकर ने भारतीय इतिहास के तथाकथित स्वर्णयुग से छुआछूत के औचित्य पर प्रश्न चिन्ह लगाया है। आज की सभ्यता और आवश्यकता के संदर्भ में सुधी पाठक, इतिहास को नए सिरे से देखना चाहेगा।

अंत में मैं अपने संयोजक, अनुवादकों, पुनरीक्षकों आदि सभी सहयोगियों के प्रति आभार प्रकट करता हूँ जिनकी निष्ठा एवं सतत् प्रयत्न से यह कार्य संपन्न किया जा सका है।

हमें आशा और विश्वास है कि हमारे पाठक पूर्ववत की तरह इस खंड का भी स्वागत करेंगे।

नई दिल्ली

देबेन्द्र प्रसाद माझी
निदेशक,
डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान

अस्वीकरण

डॉ. अम्बेडकर के लेख एवं भाषण क्रांतिकारी वैचारिकता एवं नैतिकता के दर्शन–सूत्र है। भारतीय समाज के साथ–साथ संपूर्ण विश्व में जहां कहीं भी विषमतावादी भेदभाव या छुआछूत मौजूद है, ऐसे समस्त समाज को दमन, शोषण तथा अन्याय से मुक्त करने के लिए डॉ. अम्बेडकर का दृष्टिकोण और जीवन–संघर्ष एक उज्ज्वल पथ प्रशस्त करता है। समतामूलक, स्वतंत्रता की गरिमा से पूर्ण, बंधुता वाले एक समाज के निर्माण के लिए डॉ. अम्बेडकर ने देश की जनता का आह्वान किया था।

सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय का स्वायत्तशासी संस्थान, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, **"बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकरः संपूर्ण वांग्मय"** के अन्य अप्रकाशित खण्ड 1 से 21 तक की पुस्तकों को, बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर के अनुयायियों और देश के आम जन–मानस की मांग को देखते हुए मुद्रण किया जा रहा है।

विद्वान एवं पाठकगण इन खंडों के बारे में तथा व्याकरण एवं मुद्रण सम्बंधी सुझाव से डॉ अम्बेडकर प्रतिष्ठान को उसकी वैधानिक ई–मेल आई.डी. cwbadaf17@gmail.com पर अवगत कराएं ताकि हिंदी में प्रथमवार अनुदित, इन खंडों के आगामी संस्करणों को और बेहतर बनाने में सहयोग प्राप्त हो सकें।

पाठकों के बहुमूल्य सुझावों की प्रतिक्षा बनी रहेगी।

बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर संपूर्ण बाङ्मय
डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान,
नई दिल्ली–01

निदेशक

सभी मनुष्य एक ही मिट्‌टी के बने हुए हैं और उन्हें यह अधिकार भी है कि वे अपने साथ अच्छे व्यवहार की मांग करें।

डॉ. बी. आर. अम्बेडकर

विषय सूची

संदेश v
प्राक्कथन vii
प्रकाशकीय viii
अस्वीकरण ix

1. गैर–हिन्दुओं में छुआछूत 11
2. हिन्दुओं में छुआछूत 19

भाग दो

आवास की समस्या

3. अछूत गांव के बाहर क्यों रहते हैं? 35
4. क्या अछूत छितरे व्यक्ति हैं? 43
5. क्या ऐसे समानान्तर मामले हैं? 47
6. छितरे लोगों की अलग बस्तियां अन्यत्र कैसे विलुप्त हो गईं? 51

भाग तीन

छुआछूत की उत्पत्ति के पुराने सिद्धांत

7. छुआछूत की उत्पत्ति का आधर–नस्ल का अंतर 55
8. छुआछूत की व्यवसाय जन्य उत्पत्ति 73

भाग चार

छुआछूत की उत्पत्ति के नए सिद्धांत

9. बौद्धों का अपमान–छुआछूत का मूलाधर 79
10. गोमांस भक्षण–छुआछूत का मूलाधर 87

भाग पांच

नए सिद्धांत और कुछ प्रश्न

11. क्या हिन्दू गोमांस कभी नहीं खाते थे? 93
12. गैर–ब्राह्मणों ने गोमांस खाना क्यों छोड़ा? 101
13. ब्राह्मण शाकाहारी क्यों बने? 107
14. गोमांस भक्षण से छितरे बहिष्कृत व्यक्ति अछूत कैसे बने? 125

भाग छः

छुआछूत तथा उसका उत्पत्ति काल

15. अशुचि और अछूत 133
16. बहिष्कृत व्यक्ति अछूत कब हो गए? 145
17. अनुक्रमणिका 157

प्रस्तावना

यह पुस्तक मेरी पुस्तक 'दि शूद्र-हू दे वर एंड हाऊ दे केम टु बी दि फोर्थ वर्ण ऑफ इंडो आर्यन सोसायटी', जिसका प्रकाशन 1946 में हुआ था, अंत:परिणाम है। शूद्रों के अतिरिक्त हिंदू सभ्यता ने तीन और वर्णों को जन्म दिया। इसके अतिरिक्त किसी और वर्ग के अस्तित्व की ओर वांछित ध्यान नहीं दिया गया है। ये वर्ग हैं :-

1. जरायम पेशेवर कबीले, जिनकी जनसंख्या लगभग दो करोड़ है।
2. आदिम जातियां, जिनकी जनसंख्या लगभग डेढ़ करोड़ है।
3. अछूत, जिनकी संख्या लगभग पांच करोड़ है।

इन वर्गों का अस्तित्व एक कलंक है। इन सामाजिक सृष्टियों के संदर्भ में यदि हिंदू समाज को मापा जाए तो इसे कोई सभ्य समाज नहीं कह सकता। मानवता का उत्पीड़न और दमन करने के लिए इसका यह एक पैशाचिक धूर्तता है नाम उसका तो कलंक होना चाहिए। उस सभ्यता को और क्या नाम दिया जाए जिसने ऐसे समाज को जन्म दिया हो, जिसे अपने भरण-पोषण के लिए अपराध करने की मान्यता प्राप्त हो। एक अन्य वर्ग को सभ्यता के नाम पर आदिकाल से ही बर्बरतापूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य किया हो और तीसरा वह जन समूह है जिसके साथ अमानवीय व्यवहार किया जाता हो, जिसको छूने भर से अपवित्रता का दोष लग जाए।

किसी अन्य देश में यदि ऐसी जातियां रहतीं तो लोग अपने मन को टटोलते और इनके मूल का पता लगाते परंतु इस बारे में हिंदुओं के कान पर जूं तक नहीं रेंगती। कारण सीधा-सा है। हिंदुओं को ऐसे वर्गों के प्रति कोई खेद या लज्जा नहीं, कोई गैरत नहीं और न ही वे उनकी दुर्दशा का दायित्व अपने सिर पर लेते हैं और न ही इनके उद्‌गम और विकास के बारे में जानने का प्रयास करते हैं। दूसरी ओर प्रत्येक हिंदू को यह शिक्षा दी जाती है कि हिंदू सभ्यता न केवल प्राचीनतम है बल्कि अपूर्व भी है। वे ऐसा ही समझते हैं और मानते हैं परंतु यह जान लेना कोई आसान काम नहीं है कि आखिर किस बिना पर वे हिंदू सभ्यता को अपूर्व समझते हैं। हिंदू बेशक इसे पसंद न करें किंतु यह बात गैर-हिंदुओं को झकझोर देती है। इस दावे का एक ही आधार है कि इन जातियों के ऐसे अस्तित्व के लिए हिंदू समाज ही जिम्मेदार है। ऐसे वर्गों का अस्तित्व एक अजूबा है और कोई हिंदू इसका जवाब देने की आवश्यकता नहीं समझता क्योंकि इस तथ्य से कोई इंकार नहीं कर सकता। लोग तो इतना ही चाहते हैं कि हिंदू यह अहसास करें कि यह गौरव की नहीं गैरत की बात है।

हिंदू समाज के जहन में यह बात घर कर गई है कि हिंदू सभ्यता का मानस

श्रेष्ठतम और पवित्र है जिसका श्रेय हिंदू विद्वानों की विशिष्ट मानसिकता को है।

आज विद्वत्ता का पूरा ठेका सिर्फ ब्राह्मणों को मिला हुआ है। दुर्भाग्य से इन्होंने आज तक ऐसा कोई वाल्टेयर पैदा नहीं किया जिसमें कैथोलिक चर्च के सिद्धांतों के विरोध में बिगुल बजाने की ईमानदार बौद्धिकता रही हो। भविष्य में भी किसी ऐसे व्यक्ति के प्रकट होने की आशा नहीं है। यह ब्राह्मणों की विद्वत्ता पर घोर कलंक है कि वे एक वाल्टेयर पैदा नहीं कर सके। यदि इस बात को ध्यान में रखा जाए कि ब्राह्मण ही शिक्षित हैं तो किसी को इस पर कोई आश्चर्य नहीं होगा। वे मनीषी हैं ही नहीं। एक शिक्षित और मनीषी व्यक्ति में जमीन–आसमान का अंतर है। पहला वह जो वर्ग चेतना से अभिभूत है और अपने वर्ग के हित के लिए ही मरता है। दूसरा निश्छल व्यक्ति वह है जिसके मन में वर्ग भेद की चेतना नहीं होती। क्योंकि ब्राह्मण केवल शिक्षित है इसलिए उसने कोई वाल्टेयर पैदा नहीं किया।

ब्राह्मणों ने कोई वाल्टेयर क्यों पैदा नहीं किया? इस सवाल का जवाब भी एक सवाल ही है। तुर्की का सुल्तान इस्लाम जगत की धर्म की जड़ें क्यों नहीं उखाड़ पाया? कोई पोप पादरी कैथोलिकवाद की निंदा क्यों नहीं करता? इंग्लैंड की संसद ने ऐसा कानून क्यों नहीं बनाया कि किस तरह देश की तमाम नीली आंखों वाले किशोर–किशोरियों को मार दिया जाए? इसका वही कारण है कि सुल्तान या पोप या ब्रिटिश संसद ये कार्य करने में चुप रहे वैसे ही ब्राह्मण भी कोई वाल्टेयर पैदा नहीं कर सका। इस बात को समझा जा सकता है कि किसी व्यक्ति या उसके वर्ग के स्वार्थ उसके मनोभावों को जकड़ लेते हैं और वह वैसा ही बौद्धिक कार्य करता है। ब्राह्मणों के हाथ में जो सत्ता है और उनकी जो हैसियत है वह हिंदू सभ्यता की देन है जिसमें उसे सर्वोच्च स्थान अर्पित कर रखे हैं और छोटी जातियों को नाना प्रकार की पाबंदियों से जकड़ रखा है ताकि निम्न वर्ग विद्रोह कर ब्राह्मणों को चुनौती नहीं दे सकें। यह ध्रुव सत्य है कि प्रत्येक ब्राह्मण ब्राह्मणवाद का मुकुट धारण किए ही रहेगा चाहे वह रूढ़िवादी हो या नहीं, वह पुरोहित हो या गृहस्थ, विद्वान हो अथवा बुद्धिहीन। ब्राह्मण वाल्टेयर कैसे बन सकता है? ब्राह्मणों में से कोई वाल्टेयर पैदा हो गया तो वह उस सभ्यता के लिए प्रत्यक्ष खतरा बन जाएगा जिसकी रचना ब्राह्मण की श्रेष्ठता बनाए रखने के लिए की गई है। सत्यता यह है कि ब्राह्मण की बौद्धिकता इसी दायरे में सीमित है और उसे यह चिंता बनी रहती है कि उसका स्वार्थ सिद्ध होता रहे। उसकी ये अंतर्निहित दुर्बलताएं हैं इसलिए उसकी प्रतिमा उस सीमा तक नहीं उभरती जिस सीमा तक उसकी ईमानदारी और दयानतदारी का तकाजा है। उसके सिर पर यही भय सवार रहता है कि उसके वर्ग और वैयक्तिक स्वार्थों को हानि न पहुंचने पाए। पर गुस्सा तो इस बात पर आता है कि ब्राह्मण साहित्य की पोल खोलने

के प्रयासों को ब्राह्मण लेखक सहन नहीं कर पाते। वह स्वयं भी रूढ़ि भंजक की भूमिका निभाने को तैयार नहीं हैं चाहे वह कितना ही अनिवार्य क्यों न हो। यानी किसी गैर–ब्राह्मण में यह क्षमता है तो ब्राह्मण उसके आड़े आ जाएंगे और या तो उनके होंठ सिल जाएंगे या फिर बड़े अजीबो–गरीब ढंग से उसको सीधे–सीधे खारिज कर देंगे या फिर उसे व्यर्थ घोषित कर देंगे। ब्राह्मण साहित्य की कलई खोलने के लिए लिखने पर मैं इन नीच हरकतों का शिकार हो चुका हूं।

ब्राह्मण विद्वानों के इस रवैये के बावजूद मुझे अपना काम पूरा करना है क्योंकि इन वर्गों की उत्पत्ति के विषय में अनुसंधान अभी हुआ ही नहीं है। इस पुस्तक में एक सबसे अभागे वर्ग अछूतों की दशा पर प्रकाश डाला गया है। अछूतों की संख्या तीनों में से सर्वाधिक है उनका अस्तित्व भी सर्वाधिक अस्वाभाविक है। फिर भी उनकी उत्पत्ति के विषय में कोई जानकारी इकट्ठा नहीं की गई। यह बात पूरी तरह समझी जा सकती है कि हिंदुओं ने यह कष्ट क्यों नहीं उठाया। पुराने रूढ़िवादी हिंदू तो इसकी कल्पना भी नहीं करते कि छुआछूत बरतने में कोई दोष भी है। वे इसे सामान्य और स्वाभाविक कहते हैं और न ही इसका उन्हें कोई पछतावा है और न ही उनके पास इसका कोई स्पष्टीकरण है। नये जमाने का हिंदू गलती का अहसास करता है परंतु वह सार्वजनिक रूप से इस पर चर्चा करने से कतराता है कि कहीं विदेशियों के सामने हिंदू सभ्यता की पोल न खुल जाए कि यह ऐसी निंदनीय तथा विषैली सामाजिक व्यवस्था है अथवा जो छुआछूत जैसी नृशंसता की जननी है। परंतु आश्चर्य तो इस बात का है कि अस्पृश्यता का मुद्दा आज तक यूरोप के समाज शास्त्रियों की नजर में ही नहीं आया। क्यों यह समझना तो मुश्किल है, फिर भी यह वास्तविकता तो है ही।

यह पुस्तक एक ऐसे विषय पर है जिसकी प्रत्येक व्यक्ति ने उपेक्षा की है, मार्गदर्शक प्रयास समझी जा सकती है। मैं कहना चाहता हूं कि यह पुस्तक मुख्य प्रश्न के सभी पहलुओं पर ही प्रकाश नहीं डालती वरन् अस्पृश्यता की उत्पत्ति पर भी उन सब प्रश्नों पर भी विचार करती है जो इससे संबंधित हैं। कुछ प्रश्न तो ऐसे हैं कि उनके विषय में बहुत कम लोग जानते हैं और जिन्हें इसके बारे में कुछ पता है भी तो इसका उत्तर ढूंढ़ने में सफल न होकर हतप्रभ होकर बैठ जाते हैं। केवल कुछ का उल्लेख करके यह पुस्तक उनका समाधान प्रस्तुत करेगी। जैसे अछूत गांवों के सिरे पर क्यों रहते हैं? गाय का मांस खाने से कोई अछूत कैसे बन गया? क्या हिंदुओं ने कभी गोमांस नहीं खाया? गैर–ब्राह्मणों ने गोमांस भक्षण क्यों त्याग दिया? ब्राह्मण शाकाहारी क्यों बने? इस पुस्तक में इनमें से प्रत्येक का उत्तर सुझाया गया है। हो सकता है इस पुस्तक में उन प्रश्नों के उत्तर पढ़ कर सबके मुंह लटक जाएं। फिर भी यह पता चलेगा कि यह पुस्तक पुरानी बातों पर नई दृष्टि से विचार करने का प्रयास अवश्य है।

इस पुस्तक में अस्पृश्यता के जिस सिद्धांत को प्रतिपादित किया गया है वह एक सर्वथा नया सिद्धांत है। इसमें निम्नांकित बातें हैं:

1. हिन्दुओं और अछूतों के बीच नस्ल का कोई अंतर नहीं है।
2. आरंभ में हिंदुओं और अछूतों के बीच अंतर, छुआछूत शुरू होने से पहले एक कबीले के सदस्यों और दूसरे कबीले के छितरे हुए कबीले के सदस्यों के बीच अंतर था। अंततः एक बहिष्कृत कबीले के छितरे हुए लोग "अछूत" कहलाए।
3. जैसे नस्ल छुआछूत का आधार नहीं है वैसे ही व्यवसाय भी अस्पृश्यता का आधार नहीं है।
4. अस्पृश्यता की उत्पत्ति के दो मूल कारण हैं:-
    (क) ब्राह्मणों द्वारा बहिष्कृत लोगों और बौद्धों के प्रति तिरस्कार भाव रखना तथा घृणा करना।
    (ख) बहिष्कृत लोगों द्वारा गोमांस भक्षण जारी रखना जबकि दूसरों ने उसे त्याग दिया था।
5. अस्पृश्यता का उद्‌गम तलाश करने के लिए अछूतों और अशुचियों (दूषितों) के बीच अंतर करने में सावधानी बरतनी चाहिए। सभी हिंदू लेखकों ने अछूतों को अशुचि बताया है। यह एक गलती है। अस्पृश्य और अशुचि एक दूसरे से भिन्न हैं।
6. अशुचियों का अस्तित्व धर्मसूत्रों के समय से आरंभ होता है जबकि छुआछूत बहुत बाद में 400 ई. से अस्तित्व में आई।

ये निष्कर्ष इतिहास की खोज का परिणाम हैं। एक इतिहासकार के सामने क्या लक्ष्य होना चाहिए। उसकी गेटे ने परिभाषा दी है।[1] वे कहते हैं –

"इतिहासकार का कर्तव्य है कि वह सच्चाई को झूठ से और निश्चय को अनिश्चय, असंदिग्ध को संदिग्ध से अलग करने के लिए नीर-क्षीर विवेक से काम ले...प्रत्येक खोजकर्ता को सब बातों पर विचार करने से पूर्व एक न्यायकर्ता की भावना अपनानी चाहिए। उसे उन्हीं बातों पर विचार करना है जिसके साक्ष्य सम्पूर्ण हों, प्रमाण स्पष्ट हों तभी वह अपना निष्कर्ष निकालता है और अपनी राय देता है, भले ही उसका मत उसके पूर्वगामी व्यक्ति से मेल न खाए।"

जहां तक प्रासंगिक और आवश्यक तथ्यों का संबंध है गेटे के उपदेश पर आचरण करने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती। उनका उपदेश बहुत मूल्यवान और आवश्यक

है। लेकिन गेटे ने यह नहीं बताया है कि उस समय इतिहासकाल क्या करे जब कुछ कड़ियां टूटी हुई हों, जब महत्त्वपूर्ण घटनाओं से संबंधित प्रमाण उपलब्ध ही न हों। मुझे यह इसलिए कहना पड़ रहा है कि अछूतों की उत्पत्ति की खोज करने और तत्संबंधी समस्याओं के बारे में मुझे कुछ सूत्र नहीं मिले हैं। यह सत्य है कि ऐसा मैं ही अकेला व्यक्ति नहीं हूं जिसे इस समस्या से जूझना पड़ा है। प्राचीन भारत के सभी अध्येताओं के सामने यह कठिनाई आती है। भारतीय इतिहास के बारे में चर्चा करते हुए माउंट स्टुअर्ट एलफिंस्टन का कहना है:–

“सिकंदर के आक्रमण से पूर्व भारतीय इतिहास की कोई तिथियां निश्चित नहीं हैं और इस्लामी विजय के पूर्व वास्तविक घटनाओं के बीच कोई सम्पर्क सूत्र नहीं है।”

यह एक दु:खद बात है किंतु कोई चारा ही नहीं है। प्रश्न यह है कि इतिहास का विद्यार्थी क्या करे? क्या वह झक मार कर अपने हाथ खड़े कर दे और तब तक बैठा रहे जब तक खोए सूत्र खोज नहीं लिए जाते? मेरे विचार में नहीं। मैं सोचता हूं ऐसे मामलों में उसे अपनी कल्पनाशक्ति और अंत:दृष्टि से काम लेना चाहिए ताकि टूटे हुए सूत्र जुड़ सकें और कोई स्थानापन्न प्राकलन मान लेना चाहिए ताकि ज्ञात तथ्यों और टूटी कड़ियों को जोड़ा जा सके। मैं स्वीकार करता हूं कि हाथ पर हाथ रख कर बैठ जाने के बजाए मैंने टूटे सूत्रों को जोड़ने के लिए यही मार्ग अपनाया है।

मेरी खोज का तिरस्कार करने के लिए आलोचक इस कमी का उपयोग करेंगे। यदि उनकी यह प्रतिक्रिया होगी तो मैं उन्हें चेताऊंगा कि यदि यही नियम है कि ऐतिहासिक निष्कर्ष निकालने के लिए इतिहास में वर्णित निष्कर्षों को ही मान्यता दी जा सकती है तो यह नियम गलत है यदि इन्हीं समस्याओं में उलझे रहना है।

1. कौन–सी बात सीधे साक्ष्यों पर आधारित है। किसमें लेखक ने कल्पना–शक्ति का उपयोग किया है।
2. यदि कोई खोज संभव है तो क्या वह मेरी खोज से बेहतर है?

पहली स्थिति में मैं कहूंगा कि कोई शोध इसी कारण निराधार नहीं कही जाती कि उसका कुछ अंश अनुमान पर आधारित है। मेरे आलोचकों को यह ध्यान में रखना होगा कि हम ऐसी व्यवस्था की खोज में हैं कि जिसका प्राचीन स्रोत अनुपलब्ध है। अछूतों की उत्पत्ति की व्याख्या करने का प्रयत्न ऐसा इतिहास लिखना नहीं है जिसका कलेवर निश्चित हो। यह एक ऐसा इतिहास फिर से लिखना है जिसकी विषयवस्तु नहीं है और यदि है भी तो उसका इस प्रश्न से सीधा संबंध नहीं है। इन हालात में हमें लक्ष्य तक पहुंचना है जो सामग्री लुप्त है या उससे यदि कुछ संकेत मिलते हैं तो चाहे शत–प्रतिशत सफलता न भी मिले फिर भी सत्य का अनुसंधान तो करना

ही होगा। यह काम अतीत को पुनर्जीवित करना, तथ्यों का संकलन करना और उन्हें जोड़ना है और एक नई कथा को जन्म देना है यह कार्य उसके सदृश्य है जब कोई पुरातत्ववेत्ता टूटे-फूटे पत्थरों को जोड़कर एक नए शहर की रचना कर दे या कोई जीवाश्म शास्त्री किसी लुप्त जीव की बिखरी हुई हड्डियों और दांतों को जोड़कर उसकी आकृति बना दे या कोई चितेरा अंतरिक्ष की रेखाओं, अवशेषों को निकाल कर पर्वत की ढलान पर एक दृश्य की रचना कर दे। ऐसी पुस्तक की रचना भी इतिहास से अधिक कलाकृति है। अस्पृश्यता की उत्पत्ति भी अतीत के गर्भ में समाई हुई है जिसे कोई नहीं जानता। इसे जीवंत बनाना एक इतिहास को नगर का रूप देने के प्रयत्न के समान है जो युगों पूर्व नष्ट हो गया था, उसे मूल स्वरूप प्रदान करने के समान है। इसके लिए कल्पना और अनुमान एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है। परंतु यह किसी खोज के तिरस्कार का कारण नहीं हो सकता। बिना कुशल कल्पना के वैज्ञानिक प्रश्न हल नहीं होते और सही अनुमान विज्ञान की आत्मा है। जैसा कि मैक्सिम गोर्की ने कहा है–

"विज्ञान और साहित्य" में पर्याप्त समानता है। दोनों के लिए तुलना और अन्वीक्षण अध्ययन बहुत महत्त्वपूर्ण है, कलाकार और वैज्ञानिक दोनों के लिए कल्पना और अंतःदृष्टि की आवश्यकता है। कल्पना और अंतःदृष्टि उन सम्पर्क सूत्रों को जोड़ने वाली कड़ी है जो लुप्त हो गई है और वैज्ञानिकों को अनुमान तथा सिद्धांत निश्चित करने का मार्ग प्रशस्त करते हैं जो मोटे तौर पर ठीक से और सफलतापूर्वक प्रकृति के रूप और प्रकृति के अध्ययन की सोच प्रदान करता है। ये साहित्यिक कृतियां हैं। पात्रों की रचना और उनके रूप निर्धारण के लिए भी कल्पना और अंतःदृष्टि अपनी सोच के अनुरूप सृष्टि करती है।"*

इसलिए खोई हुई कड़ियों को पुनः जोड़ने के प्रयास करने के लिए मुझे क्षमा याचना करने की आवश्यकता नहीं है। केवल इसीलिए मेरे सिद्धांतों को दूषित कहा जाना चाहिए कि इन कड़ियों का आधार शुद्ध संयोजन नहीं है। मेरा सिद्धांत जहां तथ्यों और तथ्यों के अनुमान पर आधारित नहीं है, वह अनुमानित प्रकृतियों के परिस्थितिजन्य साक्ष्यों पर आधारित है जिसमें संभावनाओं की बहुत आशा है। ऐसी कोई बात नहीं है कि मैं अपने सिद्धांत के बारे में अपने पाठकों से स्वीकृति का अनुरोध करूं कि वे उन पर विश्वास करते हुए स्वीकार कर लें। मैंने कम से कम यह तो बता दिया है कि इसके पक्ष में जो संभावनाएं मैंने प्रस्तुत की हैं उनका कोई आधार है। मैंने एक झलक मात्र ही प्रस्तुत की है इसे यह कहना कि उसका आधार कोई

प्रामाण्य निर्णय नहीं है, बाल की खाल निकालना है।

मेरे अध्ययन में दूसरी बात यह है कि मेरे आलोचक इस बात पर ध्यान दें कि मैं अपनी कृति को अंतिम मानने का दावा नहीं करता। मैं उनसे नहीं कहूंगा कि वे इसे अंतिम निर्णय मान लें। मैं उनके निर्णय को प्रभावित करना नहीं चाहता। वे अपना स्वतंत्र निर्णय लें। मैं तो इतना ही कहूंगा कि क्या मेरा यह सिद्धांत फिलहाल कुछ काम का है या नहीं। जब तक कि कोई वैध अनुमान किया जा सके जो तथ्यों के निकट हो, उन्हें एक अर्थ देता हो जिसके बिना उनका कार्य कठिन हो जाए तो अवश्य उसे लेकर आगे बढ़ा जा सकता है। मेरी अपने आलोचकों से यही आकांक्षा है कि वे इस पर निष्पक्ष दृष्टिपात करेंगे।

जनवरी 1, 1948 **डॉ. बी. आर. अम्बेडकर**

1, हार्डिंग एवेन्यू,
नई दिल्ली।

भाग एक

तुलनात्मक सर्वेक्षण

अध्याय 1. गैर-हिन्दुओं में छुआछूत
अध्याय 2. हिन्दुओं में छुआछूत

अध्याय 1

गैर-हिन्दुओं में छुआछूत

इस पुस्तक के इन पृष्ठों में इस प्रश्न का उत्तर देने की चेष्टा की गई है कि अछूत कौन हैं और छुआछूत कैसे पैदा हुई है?

विषय की तह तक पहुंचने से पहले कुछ बुनियादी सवालों का जवाब देना आवश्यक है। पहला प्रश्न है कि क्या संसार में केवल हिंदूओं में ही छुआछूत मौजूद है। दूसरा प्रश्न है कि यदि गैर-हिंदुओं तक में यह रोग है तो हिंदुओं द्वारा बरती जाने वाली छुआछूत और गैर-हिंदुओं की छुआछूत में क्या अंतर है? दुर्भाग्य से अभी तक किसी ने ऐसा तुलनात्मक अध्ययन नहीं किया। इसी का परिणाम है कि अनेक लोग यह तो जानते हैं कि हिंदुओं में छुआछूत है, किंतु वे यह नहीं जानते कि इसकी खास बात क्या है? इसकी विकरालता और खासियत सही ढंग से समझ लेने पर ही अछूतों की सही स्थिति समझ में आ सकती है और उसी से छुआछूत की उत्पत्ति भी जानी जा सकती है।

यह उचित ही होगा कि पहले हम इस बात की जांच करें कि आदिम और प्राचीन समाज में क्या स्थिति थी? क्या वे छुआछूत को स्वीकार करते थे? सबसे पहले यह बात स्पष्ट होनी चाहिए कि छुआछूत का अर्थ क्या है? इस बारे में सभी का एक ही मत होगा। सभी इस बात को स्वीकार करेंगे कि छुआछूत का आधार गंदगी, अशुचता तथा छूत लग जाने की आशंका और उससे मुक्त होने के तरीके तथा उपाय हैं।

जब आदिम सामाजिक जीवन की मीमांसा इस उद्देश्य से की जाती है कि हमें पता लगे कि वे लोग उपर्युक्त अर्थ में छुआछूत से परिचित थे या नहीं, इसमें संदेह नहीं रहता।

आदिम समाज केवल अशुद्धि की कल्पना से परिचित नहीं था वरन् उसके इस विश्वास के कारण धार्मिक रीतियों की एक जीवन पद्धति बन गई थी। आदि मानव

गैर-हिन्दुओं में प्रदूषण के संबंध में तथ्य "हेस्टिंग्स एनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजंस एंड ईथिक्स वाल्यूम X आर्टिकल प्योरीफिकेशन, पृ. 455-504 से लिए गए हैं।

अशुद्धि के निम्नलिखित कारण समझता था:

1. कुछ विशेष घटनाओं का घटना,
2. कुछ वस्तुओं से सम्पर्क, और
3. कुछ व्यक्तियों से सम्पर्क।

आदिम काल के लोगों का यह विश्वास था कि "अशुद्धि एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में भी लग जाती है। वह समझता था कि अशुद्धि का एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में लग जाना विशेष अवस्थाओं में विशेष बात है। जैसे खाने-पीने आदि के प्राकृतिक कार्य के समय"। जीवन की जिन घटनाओं को प्राचीन मनुष्य अपवित्रता का कारण मानता था, उनमें निम्नलिखित मुख्य थीं:–

1. जन्म
2. दीक्षा, संस्कार
3. वयसंधि
4. विवाह
5. सहवास
6. मृत्यु

गर्भवती माताओं को अशुद्ध माना जाता था और वे दूसरों में अशुद्धि फैलाने वाली मानी जाती थीं। माता की अपवित्रता बच्चों तक में फैलती थी।

संस्कार और व्यस्क हो जाना जीवन की वे अवस्थाएं हैं जो स्त्री-पुरुष के शारीरिक संबंध तथा सामाजिक जीवन में प्रवेश की द्योतक हैं। उन्हें एकान्त में रहना होता था, विशेष आहार करना होता था, शरीर पर लेप आदि करना पड़ता था और अंगछेदक भी, जैसे सुन्नत अमरीकी आदिवासियों में जिन लोगों का संस्कार होता था, वे न केवल विशेष भोजन ग्रहण करते थे बल्कि समय-समय पर ऐसी औषधियां भी लेते थे जिनसे उन्हें वमन हो जाएं।

विवाह के रीति-रिवाजों से ऐसा मालूम होता है कि आदिम काल का मनुष्य विवाह को पवित्र समझता था। कभी-कभी विवाहिता को अपनी जाति के आदमियों के साथ सहवास सहन करना पड़ता था—जैसे कि आस्ट्रेलिया में, अथवा जाति के मुखिया या वैद्य के साथ जैसा कि अमरीका में, या पति के मित्रों के साथ जैसा कि पूर्व अफ्रीका के कबीलों में होता था। कभी-कभी पति तलवार से पत्नी को एक खरोंच लगाता था। कभी-कभी पति से शादी होने से पहले पत्नी को वृक्ष से शादी करनी पड़ती थी, जैसे मुंडा जाति में होता था, ये जितने भी विवाह के रीति-रिवाज थे उनका उद्देश्य इतना ही था कि व्यक्ति को "अपवित्रता" से बचाए रखें।

आदिम काल के मनुष्य के लिए "मृत्यु" सबसे अधिक अशुद्धि कारक होती थी, न केवल मृतदेह अपितु मृत व्यक्ति की वस्तुओं को लेना भी "अपवित्र" होता था। औजारों

और शस्त्रों को मृत व्यक्ति की देह के साथ कब्र में गाड़ देने की प्रथा का यही तात्पर्य था कि लोग इन वस्तुओं के उपयोग को खतरनाक तथा दुर्भाग्यपूर्ण समझते थे।

वस्तुओं के स्पर्श से जो अपवित्रता पैदा होती थी उनकी चर्चा करें तो प्रारंभिक मनुष्य ने यह सीख लिया था कि कुछ वस्तुएं पवित्र हैं और कुछ अन्य अपवित्र। यदि कोई व्यक्ति किसी पवित्र वस्तु को छू दे तो यही माना जाता था कि उसने उसे अपवित्र कर दिया। पवित्र और सामान्य लौकिक वस्तुओं के दूसरे से पृथकीकरण का एक बहुत ही जीवंत उदाहरण "टोडा" लोग हैं जिनके व्यापक रीति-रिवाजों तथा सामाजिक संगठनों का सारा आधार वे प्रयत्न ही हैं, जो वे अपने पवित्र पशुओं को, पवित्र मवेशी घरों को, पवित्र दूध को, पवित्र बर्तनों को और उन लोगों को जिनका काम कर्मकाण्ड करना है जो पवित्र बनाए रखने के लिए करते हैं। मवेशी खाने में जो पवित्र पात्र रहते हैं वे हमेशा पृथक कमरे में रखे जाते हैं और उन बर्तनों में दूध तभी भरा जा सकता है जब पहले वह दूसरे कमरे में रखे हुए एक बर्तन से दूसरे बर्तन में डाला जाए और इस प्रकार बिना इस नियत बर्तन में डाले उन बर्तनों में से दूध निकाला भी नहीं जा सकता। ग्वाला, जो पुजारी भी होता है एक लम्बे कर्मकाण्ड के बाद ही अपना काम आरंभ कर सकता है। इस प्रकार उसे सामान्य आदमी के दर्जे से ऊपर उठा हुआ समझा जाता है और वह उस "पवित्र" कृत्य को करने के योग्य हो जाता है। उसको गांव में विशेष अवसरों पर ही सोने की आज्ञा होती है और ऐसे ही दूसरे नियम उसकी दिनचर्या रहती है। यदि वह "पवित्र" ग्वाला किसी की मृतदेह संभालने चला जाए तो फिर वह अपने "पवित्र" कृत्यों को करने के अयोग्य हो जाता है। इस सबसे अनुमान लगाया गया है कि इनमें से अधिकांश रीति-रिवाजों का एक ही उद्देश्य है कि लौकिकता के खतरों से रक्षा हो और "पवित्र" वस्तु को लोगों के लिए उपभोग्य बनाये जाने योग्य रखा जाए। इसलिए उन लोगों से अलग रखा जाए जो स्वयं पवित्र नहीं होते।

इस पवित्रता की भावना का संबंध केवल वस्तुओं से नहीं था। लोगों के कुछ ऐसे विशिष्ट वर्ग भी थे जो "पवित्र" समझे जाते थे। कोई व्यक्ति यदि उन्हें छू भी देता तो वह छूत लगा हुआ माना जाता था। पोलीनेशियन लोगों में एक अपने से ही व्यक्ति के स्पर्श से मुखिया की पवित्रता नष्ट हो जाती थी, यद्यपि ऐसा होना हीन व्यक्ति के लिए ही हानिकर था। दूसरी ओर "इफाते" में जो पवित्र आदमी संस्कार संबंधी अपवित्रता से संबंध रखता था उसकी पवित्रता नष्ट हो जाती थी। उगांडा में पूजा स्थल निर्माण से पहले आदमियों को चार दिन का समय केवल इसलिए दिया जाता था कि वे अपने आपको शुद्ध कर लें। दूसरी ओर मुखिया और उसकी चीजें प्रायः इतनी अधिक शुद्ध मानी जाती रही हैं कि यदि कोई हीन दर्जे का व्यक्ति उसे

उपयोग में लाए तो वह उसके लिए खतरनाक होता है। "टोंगा" द्वीप में जो आदमी किसी मुखिया को स्पर्श करे वह निषिद्ध हो जाएगा। यह दोष पवित्र मुखिया के पैर के तलवे को स्पर्श करने से दूर होगा। मलाया प्रायद्वीप के मुखिया की पवित्रता राजकीय चिन्ह में विराजती थी और यदि कोई उसका स्पर्श करे तो वह गंभीर सजा अथवा मृत्यु का भागी होता था।

अजनबी लोगों से मिलना, आदिम पुरुष द्वारा छुआछूत का स्रोत माना जाता था। बयोंगा के लोगों का विश्वास है कि जो लोग अपने देश से बाहर जाते हैं, उन पर बाहरी पैशाचिकता का प्रभाव हो सकता है। विदेशी वर्जित थे, क्योंकि विदेशी देवताओं की पूजा करने से उनके बुरे प्रभाव पड़ते थे। इसलिए उन्हें या तो धूनी दी जाती थी अथवा किसी दूसरे तरीके से शुद्ध किया जाता था। डीयरी और इसके पड़ोस की जातियों में स्वजातीय व्यक्ति भी जब बाहर से लौटते तो उनके साथ एक अजनबी सा बर्ताव होता था, और जब वह बैठ न जाए तब तक उसकी ओर कोई ध्यान नहीं देता था। अज्ञात देश से आने वालों के लिए जितना खतरा था, अपरिचित देश में जाना भी उतना ही खतरनाक था। आस्ट्रेलिया में जब एक जाति दूसरी जाति से संसर्ग में आती तो वे वायु शुद्धि के लिए जलती हुई मशालें आगे-आगे लेकर चलते थे, ठीक वैसे ही जैसे स्पार्टा देश के नरेश जब युद्ध के लिए जाते तो उनके आगे-आगे वेदी की पवित्र आग चलती थी।

इसी प्रकार जो बाहर से किसी घर में प्रवेश करते थे, उन्हें पांव के जूते उतारने जैसी ही, कोई न कोई रीति निभानी पड़ती थी, अन्यथा इस बात का पूरा डर था कि वे घर के लोगों को बाहर की छूत लगाकर अपवित्र कर देंगे, जब भी घर का कोई आदमी किसी को छू देने से अशुद्ध बना देने की स्थिति में हो तो बाह्य संसार से सम्पर्क के मुख्य साधन देहरी तथा चौखट पर खून लगा दिया जाता अथवा पानी छिड़क दिया जाता था। कभी-कभी घर के दरवाजे पर टोटके के रूप में घोड़े की नाल लटका दी जाती थी जिससे बुरे प्रभावों से रक्षा हो और घर में सौभाग्य आए।

इसमें संदेह नहीं कि जन्म, मृत्यु तथा विवाह के साथ जितने भी अनुष्ठान होते थे उन सब का एक मात्र यही तात्पर्य नहीं था कि वे जन्मादि प्रदूषण के स्रोत ही हैं, बल्कि जब और जहां-जहां भी एकांतवास होता है उससे इतना तो प्रदूषण होता है तथा वह और प्रदूषण का भी द्योतक है। जन्म, संस्कार, विवाह तथा मृत्यु होने पर उसके साथ किसी प्रकार का व्यवहार होने पर भी प्रदूषित होता है। वह त्याज्य है।

बालक का जन्म होने पर माता को पृथक कर दिया जाता है। वयसंधि पर और दीक्षित होने पर भी कुछ समय पृथक रहना पड़ता है। विवाह में मंगनी से लेकर विवाह संस्कार हो जाने तक पति-पत्नी एक दूसरे से पृथक रहते हैं।

स्त्री जब रजस्वला होती है तो उसे पृथक रहना पड़ता है। मृत्यु होने पर पृथकीकरण विशेष रूप से होता है। मृतक व्यक्ति की देह ही नहीं उसके संबंधियों को भी अलग लोगों से दूर रहना पड़ता है। यह संगरोध उसके बढ़े हुए बालों और नाखूनों के और पुराने कपड़ों के पहनने से स्पष्ट होता है। इसका अर्थ यह होता है कि समाज के नाई, धोबी आदि उनकी सेवा नहीं कर रहे हैं। यदि शुद्ध व्यक्ति को किसी सामान्य लौकिक व्यक्ति ने दूषित कर दिया हो अथवा स्वजाति से ही अपवित्रता हुई हो तो एकांतवास होता ही है। सामान्य दूषित व्यक्ति को शुचि से दूर रहना ही चाहिए सजातीय को विजातियों से दूर रहना चाहिए। इससे यह स्पष्ट है कि आदिमकाल के समाज में अशुद्धि के कारण पृथक कर दिया जाता था।

अशुद्धि को दूर करने के साधन पानी और रक्त हैं। जो आदमी अशुद्ध हो गया हो उस पर यदि पानी और रक्त की छींटे दे दिए जाते हैं तो वह पवित्र हो जाता है। पवित्र बनाने वाले अनुष्ठानों में वस्त्रों को बदलना, बालों तथा नाखूनों आदि को काटना, पसीना निकालना, आग तापना, धूनी देना, सुगंधित पदार्थों को जलाना और वृक्ष की किसी-किसी डाली से झाड़फूंक कराना शामिल हैं।

ये अशुद्धि मिटाने के साधन थे। किंतु आदिमकाल में अशुद्धि से बचने का एक और उपाय भी था। वह था एक की अशुद्धि दूसरे पर डाल देना। वह किसी दूसरे ऐसे व्यक्ति पर जो पहले से ही वर्जित अथवा बहिष्कृत होता था डाल दी जाती थी।

न्यूजीलैंड में यदि एक आदमी दूसरे के सिर को स्पर्श कर देता तो सिर, शरीर का पवित्र भाग होने के कारण वह आदमी वर्जित हो जाता था। तब अपने हाथों को एक प्रकार की जड़ विशेष से रगड़ कर अपने को पवित्र बनाना होता था। वह जड़ मातृ पक्ष में परिवार के मुखिया का भोजन बनती थी। टोंगा में यदि कोई आदमी वर्जित भोजन ग्रहण कर लेता तो उसके बुरे प्रभाव से निकलने का यही उपाय था कि वह अपने परिवार के मुखिया के पैर से पेट छुआ ले।

एक की अशुद्धि दूसरे में चले जाने की कल्पना बलि के पात्र की रीति से प्रकट होती है। फिजी में यदि कोई वर्जित आदमी एक सुअर पर अपने हाथ धो देता तो वह मुखिया के लिए पवित्र हो जाता। उगांडा में जब राजा के लिए शोक मनाने का समय समाप्त होता तो एक बलि के बच्चे के साथ एक गऊ, एक बकरी, एक कुत्ता, एक मुर्गी और राजा के घर की कुछ मिट्टी और आग नगर की सीमा पर पहुंचा दी जाती, वहां उन पशुओं को लंगड़ा-लूला बनाकर मरने के लिए छोड़ दिया जाता। ऐसा विश्वास था कि इस रीति से राजा और रानी की सारी अशुद्धि दूर हो जाती है।

ये सब बातें आदिम समाज में अशुद्धि संबंधी कल्पना का अस्तित्व सिद्ध करती हैं।

II

यदि हम आदिम काल के समाज के बाद प्राचीन समाज पर दृष्टिपात करें तो प्राचीन समाज की अशुद्धि की कल्पना आदिम समाज की अशुद्धि की कल्पना से कुछ भिन्न नहीं थी। अशुद्धि के स्रोत में अथवा कारणों में भेद हैं। शुद्धिकारक रीति-रिवाज भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, किंतु इन भेदों के अतिरिक्त आदिम काल के समाज और प्राचीन समाज में अपवित्रता तथा पवित्रता का जो रूप है वह एक जैसा है।

मिस्र देश की अशुद्धि कल्पना की यदि आदिम समाज की अशुद्धि पद्धति से तुलना की जाए तो दोनों में केवल इतना ही अंतर है कि मिस्र देश में यह अधिक कठोर हो गई।

यूनानियों में रक्त प्रवाह, भूतों का प्रभाव, मृत्यु, संभोग, बालक का जन्म, शौच, निषिद्ध भोजनों का खाना जैसे, शोरबा-विशेष, मक्खन और लहसुन, अनधिकृत व्यक्तियों का पवित्र स्थानों में चले आना और विशेष अवस्थाओं में गाली देना तथा झगड़ा करना भी अशुद्धि के कारण माने जाते थे, और पवित्रता के साधन, जिन्हें सामूहिक रूप से यूनानी कापोइया कहते थे। अभिमंत्रित जल, गन्धक, प्याल, धूनी, आग, कुछ पेड़ों की डालियां, दूसरी वनस्पति, अलकतरा, ऊन, कुछ पत्थर और ताबीज, सूर्य की ताप, स्वर्ण सदृश चमकदार वस्तुएं, बलि के पशु, विशेष रूप से सुअर और उसमें भी उनका रक्त और मांस, कुछ उत्सव और उन अवसरों पर किए जाने वाले रीति-रिवाज विशेष रूप से शाप देना तथा बलि का पात्र थे। शुद्धि का एक असाधारण तरीका प्रदूषित आदमी के सिर के बाल काटना और देवता से इसका संबंध स्थापित करना भी था।

रोम वासियों की अपवित्रता और पवित्रता की कल्पना की विशेषता है- प्रादेशिक तथा जातिगत दूषित तथा पवित्रता की कल्पना। जिस प्रकार घर की पवित्रता होती थी उसी प्रकार का एक संस्कार सारे प्रदेश को पवित्र बनाने वाला भी था। प्रादेशिक शुद्धि का संस्कार सारी सीमा की प्रदक्षिणा करने और बलि देने से पूरा होता था। प्राचीन काल में शहरी परकोटे के चारों ओर एक इसी प्रकार की प्रदक्षिणा होती थी। ऐतिहासिक युग में नगर के विशेष पवित्रीकरण का आयोजन किसी भी आपदा के बाद किया जाता था, जैसे द्वितीय प्यूनिक युद्ध से हुए महान विनाश के बाद हुआ। इन सारे प्रायश्चितों का मुख्य उद्देश्य देवताओं की अनुकम्पा प्राप्त कर लेना मात्र था। किसी भी उपनिवेश के आरंभ के समय शुद्धिकरण होता था। सीमाओं और बाजारों की रक्षा भी अपने-अपने मूल रूप में उनका शुद्धिकरण ही रहा होगा। अभी पिछले समय तक पादरियों का एक वर्ग विशेष प्राचीन रोग की सीमाओं पेलेरिनेट की बस्ती

की परिक्रमा लगाता था। उससे पहले वहां आरंभिक नगर की प्राचीनतम सीमाओं की वार्षिक परिक्रमा होती थी। अरवल नामक पादरी उसका नेतृत्व करते थे। यह प्रदक्षिणा अम्बरबलिया कहलाती थी और यह निश्चयात्मक रूप से देवताओं को संतुष्ट करने के लिए ही की जाती थी। जब रोम राज्य की सीमा में वृद्धि हुई तो ऐसा नहीं लगता था कि उसी अनुपात में शुद्धिकरण के संस्कार में भी वृद्धि की गई हो। यह परिक्रमा अन्यत्र इटली के बाहर और भीतर तथा यूनान में भी होती थी। मंत्रों वाली प्रार्थनाओं के विशुद्ध उच्चारण में कुछ जादू का सा प्रभाव रहा प्रतीत होता है। इनके उच्चारण में यदि कोई अशुद्धि रह गई तो उनका प्रायश्चित करना होता था। जैसे प्राचीन रोम की न्याय पद्धति में यदि उनके शाब्दिक उच्चारण में कोई अशुद्धि रह जाती तो वादी अपना आरोप अथवा मुकदमा ही हार जाता।

अनोखे प्राचीन रीति-रिवाजों के कुछ दूसरे रूप भी देवताओं को प्रसन्न करने की कल्पना के ही साथ जुड़े थे। साली नामक प्राचीन पादरी विशेष अवसर पर नगर के भिन्न-भिन्न स्थानों की परिक्रमा करते थे। वे अपने हथियारों तथा वाद्यों को भी पवित्र करते थे जिससे आदिम लोगों की इस कल्पना को बल मिलता है कि सेना के शस्त्रों के सफल प्रयोग के लिए उनका पवित्र होना आवश्यक है। सरकारी गणना जिसका समापन शुद्धिकरण के साथ होता था वह भी वास्तव में एक सैनिक प्रक्रिया ही थी क्योंकि वह उस केन्द्रीय समिति से संबंधित थी जो सामान्य शस्त्रधारी सेना ही हैं। यह सैनिक शुद्धिकरण सेना में कभी-कभी व्याप्त हो जाने वाले मिथ्या भय को दूर करने के लिए उसी समय होता था जब सेना युद्ध क्षेत्र में पहुंचती थी। अन्य अवसरों पर यह केवल रोगादि से बचाव के लिए होता था। नौ-सेनाओं का भी शुद्धिकरण होता था।

सभी आदिम लोगों की तरह हिब्रू भी अशुद्धि की कल्पना को मानते थे। उनकी प्रदूषण की कल्पना की विशेषता उनका यह विश्वास था कि शुद्धिकरण गन्दे पशुओं के अस्थि पंजर के स्पर्श से अथवा उनका मुर्दामांस खाने से पैदा होती है, अथवा रेंगने वाले पशुओं, अथवा सदैव गन्दे रहने वाले पशुओं के स्पर्श से होती है। वे सब पशु जिनके खुर चिरे होते हैं जुगाली नहीं करते हैं, जो अपने पैरों के बल चलते हैं और चौपाया पशुओं से अशुचिता पैदा होती है। किसी गंदे आदमी से स्पर्श होना भी हिब्रू लोगों के लिए अशुद्धि थी। हिब्रू लोगों की अशुद्धि की दो और विशेषताएं भी कहीं जा सकती हैं। वे मानते थे कि मूर्ति पूजा भी अशुद्धि का कारण हो सकती है, और लोगों की लैंगिक अशुद्धता से प्रदेश का प्रदेश अपवित्र हो जाता है।

संक्षेप में इस विस्तृत ब्यौरे के बाद हम यह कह सकते हैं कि आदिम समाज अथवा प्राचीन समाज के लोग अशुद्धि की कल्पना को मानते थे।

अस्पृश्यों का त्रास ही हिंदुओं का अपराध है। हिंदुओं की धार्मिक मनोवृत्ति में क्रांति के लिए अस्पृश्यों को कितना इंतजार करना पड़ेगा? इसका उत्तर तो वही दें, जो भविष्यवाणी करने की योग्यता रखते हैं।

—**डॉ. भीमराव अम्बेडकर**

अध्याय 2

हिन्दुओं में छुआछूत

अशुद्धि के बारे में हिन्दुओं में और आदिम अथवा प्राचीन समाज के लोगों में कोई भेद नहीं है। हिन्दू अशुद्धि की कल्पना मानते थे और उसे स्वीकार करते थे जो मनुस्मृति से सुस्पष्ट है। मनु ने शारीरिक अशुद्धि और मानसिक अशुद्धि को माना है।

मनु ने जन्म[1], मृत्यु तथा मासिक धर्म[2] को अशुद्धि का जनक स्वीकार किया है। मृत्यु से होने वाली अशुचिता व्यापक और बहुत दूर तक फैलती थी। यह रक्त संबंध का अनुसरण करती थी। मृत्यु से मृत व्यक्ति के परिवार के सभी लोग जिन्हें सपिण्डक तथा समानोदक[3] कहते हैं अपवित्र होते थे। इसमें न केवल मातृ पक्ष के संबंधी मामा[4] आदि सम्मिलित थे बल्कि दूर-दूर के संबंधी भी शामिल थे। वह दूर के संबंधियों[5] तक को प्रभावित करती थी जैसे (1) आचार्य (2) आचार्य[6] पुत्र[7] (3) आचार्य भार्या[8] (4) शिष्य[9] (5) सहपाठी[10] (6) श्रोत्रिय[11] (7) राजा[12] (8) मित्र[13] (9) परिवार के लोग[14] (10) शव को ले जाने वाले[15] (11) मृत देह को स्पर्श करने वाले[16]।

---

[1] अध्याय पांच- 58, 61, 63, 71, 77, 79
[2] अध्याय तीन- 45, 46
[3] अध्याय चार- 40, 41, 57, 208
[4] अध्याय पांच- 81
[5] अध्याय पांच- 66, 85, 108
[6] अध्याय पांच- 65, 80, 82
[7] अध्याय पांच- 80
[8] वही
[9] अध्याय पांच- 81
[10] अध्याय पांच- 71
[11] अध्याय पांच- 81
[12] वही- 82
[13] वही
[14] अध्याय पांच- 81
[15] अध्याय पांच- 64, 65, 85
[16] अध्याय पांच- 64, 65

जो कोई भी अशुद्धि की परिधि में आता था वह उससे बच नहीं सकता था। केवल कुछ ही लोग इसके अपवाद थे। निम्नलिखित श्लोकों में मनु ने उन अपवादों का नाम लिया है। उनका हिंदी रूपांतर दिया गया है और ऐसा करने का कारण भी बताया है:–

पांच 93 – अभिषिक्त राजा, व्रती (ब्रह्मचारी तथा चान्द्रायणादि व्रत करने वाले), यज्ञकर्ता (यज्ञ में दीक्षित) लोगों को (सपिण्डके मरने पर) अशुद्धि (अशौच) दोष नहीं होता है, क्योंकि राजा अभिषिक्त होने से इन्द्रापद को प्राप्त होते हैं तथा व्रती और यज्ञकर्ता ब्रह्मतुल्य निर्दोष हैं।

पांच 94 – राजसिंहासनारूढ़ राजा की (राज्यभ्रष्ट राजा की नहीं) तत्काल शुद्धि होती है, इसमें प्रजा की रक्षा के लिए राजसिंहासन ही कारण है।

विमर्श – प्रजारक्षार्थ राजसिंहासन के शुद्धि में कारण होने से क्षत्रिय–भिन्न ब्राह्मण, वैश्य या शूद्र भी राजसिंहासन पर रहेगा तब उसकी भी शुद्धि तत्काल होती है। क्योंकि यहां जाति विवक्षित नहीं है, अपितु पद विवक्षित है।

पांच 95 – नृप से रहित युद्ध में मारे गये, बिजली से मरे हुए, राजा (किसी अपराध में राजदण्ड) से मारे गए अर्थात् प्राणदण्ड प्राप्त, गौ तथा ब्राह्मण की रक्षा के लिए (युद्ध के बिना भी जल, अग्नि या व्याघ्र आदि से) मारे गए और (अपनी कार्य हानि नहीं होने के लिए) राजा जिसकी तत्काल शुद्धि चाहता हो, उसकी (तत्काल शुद्धि होती है)।

पांच 96 – राजा चन्द्र, अग्नि, सूर्य, वायु, कुबेर, इन्द्र, वरुण और यम इन आठों लोकपालों के शरीर को धारण करता है।

पांच 97 – (अतएव) राजा लोकपालों के अंश से अधिष्ठित है, इस कारण इस (राजा) को अशौच नहीं होता है; क्योंकि मनुष्यों की शुद्धि या अशुद्धि लोकपालों से होती है या नष्ट (दूर) होती है। अतएव दूसरों की शुद्धि और शुद्धि के उत्पादक और विनाशक लोकपालों के अशंभूत राजा को अशुद्धि कैसे हो सकती है।

इससे स्पष्ट है कि राजा और धर्म युद्ध में मारे गए लोगों के संबंधी तथा वे जिन्हें राजा अशुद्धि का अपवाद बनाए रखना चाहता था, सामान्य नियमों से प्रभावित नहीं थे। मनु का यह कथन कि ब्राह्मण सदैव पवित्र होता है, शाब्दिक अर्थों में ग्रहण किया जाना चाहिए अर्थात ब्राह्मण को सर्वोपरि बनाकर रखना। इसका यह अर्थ नहीं लेना चाहिए कि ब्राह्मण अपवित्रता से मुक्त था क्योंकि वह ऐसा नहीं था। जन्म और मृत्यु के अतिरिक्त ब्राह्मण पर तो अपवित्रता के और भी अनेक कारण लागू थे जो अब्राह्मणों पर लागू नहीं थे। मनुस्मृति ऐसे निषेधों से भरी पड़ी है, जो केवल ब्राह्मणों

पर ही लागू होते हैं और जिनका पालन उसे करना चाहिए। यदि वह उसका पालन न करे तो वह अपवित्र होता ही है।

मनु की अशुचिता का सिद्धांत वास्तविक है काल्पनिक नहीं क्योंकि वह अशुद्ध व्यक्ति द्वारा दिए गए भोजन को अग्राह्य ठहराता है। मनु ने अशुचिता का समय भी निर्धारित किया है। यह भिन्न-भिन्न है। सपिण्ड हो तो दस दिन। बच्चों के लिए तीन दिन, सहपाठियों के लिए एक दिन, निश्चित दिन व्यतीत हो जाने मात्र से अशुचिता चली नहीं जाती। निश्चित अवधि पूरी हो जाने पर उस अवसर के योग्य प्रायश्चित करना पड़ता है।

शुद्धि के उद्देश्य से मनु ने इस विषय को तीन तरह से लिया है:-

1. शारीरिक अशुद्धि
2. मानसिक अथवा मनौवैज्ञानिक
3. नैतिक अशुद्धि

नैतिक अशुद्धि मन में बुरे संकल्पों को स्थान देने से पैदा होती है। उसकी शुद्धि के नियम तो केवल उपदेश या आदेश ही हैं[1]। किंतु मानसिक तथा शारीरिक अशुद्धि दूर करने के लिए जो अनुष्ठान हैं वे एक ही हैं, उनमें पानी[2], मिट्टी[3], गो-मूत्र[4], कुशा[5], और भस्म[6] का उपयोग शारीरिक अशुद्धि को दूर करने में होता है। मानसिक अशुद्धि को दूर करने में पानी सबसे अधिक उपयोगी है।

उसका उपयोग तीन तरह से होता है। आचमन, स्नान तथा सिंचन[1]। आगे चलकर मानसिक अशुद्धि दूर करने में पंचगव्य का सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान हो गया। गौ से प्राप्त पांच पदार्थों-दूध, गोमूत्र, गोबर, दही और घी से इसका निर्माण होता है।

मनु ने यह व्यवस्था भी की है कि अपनी अशुचिता किसी दूसरे पर लगाकर उससे मुक्ति मिल जाए जैसे किसी गौ के स्पर्श द्वारा अथवा आचमन करके सूर्य की ओर देख लेने से।

व्यक्तिगत अशुचिता के साथ-साथ हिन्दुओं का प्रदेशगत और जातिगत अशुद्धि और उसकी शुद्धिकरण में भी विश्वास रहा है, ठीक वैसा ही जैसा प्राचीन रोम के निवासियों में प्रथा प्रचलित है। हर गांव की एक पशु जात्रा होती है। गांव की ओर से एक पशु अक्सर एक भैंसा खरीदा जाता है गांव की परिक्रमा के बाद पशु की बलि

---

1. अध्याय पांच- 105, 109, 127, 128
2. अध्याय पांच- 127
3. अध्याय पांच- 134, 136
4. अध्याय पांच- 121-124
5. अध्याय पांच- 115
6. अध्याय पांच- 111

चढ़ा दी जाती है। गांव के चारों ओर उसका रक्त छिड़क दिया जाता है और अंत में ग्रामवासियों में पशु का मांस बांट दिया जाता है। प्रत्येक हिंदू, प्रत्येक ब्राह्मण चाहे वह गोमांस भक्षी न भी हो अपने हिस्से का मांस अवश्य लेता है। यह बात किसी स्मृति में नहीं लिखी है, लेकिन इसकी एक रिवाज चली आ रही है। हिन्दुओं के ये रीति-रिवाज कानून/विधि से भी ऊपरहैं।

यदि यहीं तक सीमा होती तो यह आसानी से कहा जा सकता था कि हिन्दुओं में अशुद्धि की जो धारणा है वह आदिम तथा प्राचीन समाज में विद्यमान अशुद्धि की धारणा से किसी तरह से भिन्न नहीं हैं लेकिन यहीं इतिश्री नहीं हो जाती क्योंकि हिंदू एक और तरह की छुआछूत को मानते है जिसका अभी उल्लेख नहीं किया गया है।

1. अध्याय पांच - 143
2. अध्याय पांच - 87

कुछ जातियां पुश्तैनी छुआछूत की शिकार हैं। इन जातियों की संख्या इतनी अधिक है कि बिना किसी विशेष सहायता के एक सामान्य व्यक्ति के लिए उनकी एक पूरी सूची बना लेना आसान नहीं है। भाग्यवश 1935 में भारत सरकार ने इस प्रकार की एक सूची तैयार की थी। वह 1935 के ही गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट के अधीन निकाले गए "आर्डर इन काऊंसिल" (आज्ञापत्र) के साथ संलग्न है। यह लम्बी सूची 9 भागों में विभक्त है। एक भाग का संबंध एक प्रांत से है और उसमें उस प्रांत की उपजातियों, नस्लों, कबीलों अथवा उन समूहों की गणना की गई, जो सारे प्रांत अथवा उसके एक हिस्से में अछूत माने जाते हैं। यह सूची विस्तृत और प्रामाणिक अथवा प्राधिकृत कही जा सकती है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए कि हिंदू लोग जातियों की कितनी बड़ी संख्या को वशांनुगत या जन्मजात अछूत मानते हैं, मैं 'आर्डर इन काऊंसिल' की वह सूची यहां दे रहा हूंः–

सूची

भाग-I मद्रास

अजिला
अरुंददियार
आदि आध्रं
आदि द्रविड
आदि कर्नाटक
कनक्कन
कल्लाडी
कुडुम्बन
कुरवन
कुर्ग
कूसा
कोडालो
गासी
गोडागली
गोडारी
गोड्डा

गोसांगी
चच्चाति
चक्किलियन
चंडाल
चमार
चल्वादि
चेरूमन
जग्गालि
जाम्बुलु
तोटि
तिरवल्तुवर
दंदसी
देवेन्द्र कुलटान
नलक्के यवा
नायाडि
पंचमा
पणियन
पन्नियांडी
परैयन

पर्वन
पल्लन
पागादायि
पामिडि
पांबाडा
पुलयन
पैडि, पैंडा
पुदिरैवाजन, पैक्कि
बंदी
बकुदा
बट्टडा
बेल्लारा
बैरा
बैरिगि
बैवुरि
ब्यागरी
मदारी
माला
मादिगा

मातंगी
मालादासु
मुंडाला
मुच्ची
मैला
मोगर
रानियर
रैल्ली
वल्लुवन
वाल्मीकि
वेट्टुवन (वेट्टियान)
सप्पारी
समगारा
साम्बन
सेम्मन
हड्डी
हसला
होलिया

(2) प्रान्त की विधान सभा में पिछड़े हुए क्षेत्रों तथा पिछड़ी हुई जातियों के एक प्रतिनिधि के चुनाव के लिए सभी प्रांतों में अनुसूचित जातियों की सूची:– 1935 के गवर्नमंट ऑफ इंडिया एक्ट के अंतर्गत गठित किसी विशेष निर्वाचन क्षेत्र के अतिरिक्त यदि कोई विशेष चुनाव क्षेत्र हों तो वह उस नियम का अपवाद होगा।

अरनादन्
कट्टुनायकन
कदन्
करम्पालन

कुडबि
कुडया
कुरिच्चन
कुरूमन

डोम्बो
पानो
मविलन
मालासर

भाग–II बम्बई

(1) सारे प्रांत में अनुसूचित जातियां

आसोदि
कोलचा या कोलधा
कोली ढोर
खालपा
गरोडे
चक्रवाड्या दासर
चम्भार या चीगरया
समगर
चूहड़ या चूहड़ा
चेनाडसारू
डाकालेरू
ढेड़
ढोर
तिमारी
तूरि
नदिया
बकड
भंगी
मघवाल या मेघवाल
महार
मादिगया
मांग
मांग गरूडी
मुकरि
लिंगाडेर
वणकर
विठोलिया
सिंघदाव या सिंघवा
सोची
भाकिब
हलसर या हसलर
हल्लीर
हुलसवर
होलाया
ढेगूमेगु

भाग–III बंगाल

अगरिया
ओरोंच
कपूरिया
कस्था
कादर
कान
कॉंध
काओरा
कांद्रा
कारेंगा
कोच
कोतल
कोनवार
कोरा
खटीक
खेरा
गारो
गोंढी
बिंद
बिझिया
बेलदार
चमार
जलिया कैर्क्त
डोम डालोमालो या मालो
दोआइ, तियार, तूरि
धोबा
धुनवार
नट नागेसिया
नामसूद्र
नुनिया
पटनी
पलिया
पान
पासी
पोड
बरूवा

कोना
बागडि
बाबरी
सुनरी
हलाल खोर
हाड़ी
बेड़िया, बैली
भाटिया
भुइमाली
दुसाध
भुइँया
भूमिज
मल, मल्लाह
महार
माहली
मुंडा
मुचि
मुसहर
बहेलिया
मेहतर
मैक
रभा
राजवंशी
राजवार
संथाल
हजंग
हाडी, हो

संयुक्त प्रांत

(1) प्रांत भर में अनुसूचित जातियां

अगरिया
अहेरिया
कंजर
करवाल
कलावाज
कापड़िया
कोरवा
कोल
खटिक
खरवार
खारोट
धरामी
घसिया
ग्वाल
चमार
चेरो
धनगर
धरकार
धाँगड़
धानुक (भंगी)
धोबी
नट
पंखा
परहीया
पटारी
पासी
बंगाली
बजनियां
बड़ी
बधिक
बनमानुस
बरबार
बाल्मीकि
बावरिया
बेरया
बेलदार
बैगि
बोरिया
भुइया
भुइयार
भान्तु
मझवार
रावत
लालबेगी
सहरिया
सन्हौरिया
साँसिया
शिल्पकार

डोम
तुरैयाह
थारू
दबगर
बलहार
बांसफोड़
बासोर
बहेलिया
हाबुड़ा
हाड़ी
हैला

(2) आगरा, मेरठ और रूहेलखंड मण्डल के सिवाय संपूर्ण प्रांत भर में – कोरी

भाग–V पंजाब

आदि धर्मी
ओड़
कोरी
खटिक
गंधील
गागरा
चनल
चमार
चूहड़ा या बाल्मीकि
डागी और कोली
धानक
धुमना
नाट
पासी
पेरना
बंगाली
बरर
बाजीगर
बावरिया
भॉजरा
मरिजा या मरे
मेघ
रामदासी
सरेरा
साँसी
सिरकी बंद
सपेरा

भाग–VI

(1) बिहार प्रांत भर में अनुसूचित जातियां

कंजर
कुरारियर
चमार
चौपाल
डोम
धोबी
दुसाध
नट, पासी
मुसहर
मोची
लालबेगी
हाड़ी हलालखोर

(2) पटना तथा तिरहुत कमिश्नरी में, और भागलपुर, मुंगेर, पालामऊ तथा पूर्णिया जिले में

घासी
तुरि
पान
बौरी
भूमिज
भोगटा
भौर्या
राजवर

(3) भानभूमि जिले की धनबाद तहसील, मध्य मानभूमि के सामान्य ग्रामीण चुनावक्षेत्र तथा पुरूलिया, और रघुनाथपुर म्यूनिसिपैलिटी में–

घासी
तुरि व भुइँया
पान
बौरि, भुलया
भोगटा
राजवर

भाग–VII मध्य प्रांत और बरार

(1) प्रांत भर में अनुसूचित जातियां

गांडा
डोम
चमार
बसोर या बुरूड़
मांग
मेहतर या भंगी
मोची
सतनामी

(2) स्थान विशेष में अनुसूचित जातियां

औघेलिया – बिलासपुर जिले में
बहना – अमरावती जिले में
बलाही या बलाई – बरार मण्डल और बालाघाट भंडार, बेतूल, चांदा, छिंदवाड़ा, होशंगाबाद, जबलपुर मंड्या, नागपुर, निमाड़, सगरूर और बुलढाना जिलों में
बेदार – अकोला, अमरावती और बुलढ़ाना जिलों में
चदर – भंडारा और सागर जिलों में
चौहान – दुर्ग जिले में
देहयात – सागर जिले के दमोह उपमण्डल में
देवाड़ – बिलासपुर दुर्ग और रायपुर जिलों में
धानुक – दमोह उपमंडल को छोड़कर संपूर्ण सागर जिले में
धीमर – भंडारा जिले में
धोबी – भंडारा, बिलासपुर, रायपुर और सागर जिलों में और होशंगाबाद जिले की होशंगाबाद और सियोनी–मालवा तहसीलों में
दोहर – बरार मण्डल और बालाघाट, भंडारा, बिलासपुर, चाँदा दुर्ग, नागपुर, रायपुर और वर्धा जिलों में

घसिया – बरार मण्डल और बालाघाट, भंडारा बिलासपुर, चोंदा, दुर्ग, नागपुर, रायपुर और वर्धा जिलों में

होलिया – बालाघाट और भंडारा जिलों में

जंगम – भंडारा जिले में

ककरि – बरार मंडल और भंडारा, चांदा बरारा तथा वर्धा जिलों में

कटिया – बरार मंडल, बालाघाट, बेतूल, भंडारा, बिलासपुर चांदा, दुर्ग, नागपुर, निमाड़, रायपुर और वर्धा जिलों में, होशंगाबाद जिले की होशंगाबाद और सिवनी मालवा तहसीलों में। सिवनी उपमंडल को छोड़कर शेष छिन्दवाड़ा जिले में, दमोह उपमंडल को छोड़कर शेष सागर जिले में।

खंगार – भण्डारा, बुलढ़ाना सागर जिलों में और होशंगाबाद जिले की होशंगाबाद तथा सिवनी मालवा तहसीलोंमें।

खटीक – बरार डिवीजन में, बालाघाट, भण्डारा चांदा, नागपुर, और वर्धा जिलों में, होशंगाबाद जिलों की होशंगाबाद तहसील में, सिवनी तहसील को छोड़कर शेष छिन्दवाड़ा जिले में तथा दमोह सब-डिवीजन को छोड़कर शेष सागर जिले में।

कोली – भण्डारा और चांदा जिलों में।

कोरी – अमरावती, बालाघाट, बेतूल, भण्डारा, बुलढ़ाना, छिन्दवाड़ा, जबलपुर, मांडला, निमाड़, रायपुर और सागर जिलों में तथा हरदा और सोहागपुर तहसीलों को छोड़कर शेष होशंगाबाद जिले में।

कुम्हार – भण्डारा और सागर जिलों में तथा होशंगाबाद जिले की सिवनी-मालवा तथा होशंगाबाद तहसीलों में।

मादगी – बरार डिवीजन में तथा बालाघाट, भण्डारा चांदा, नागपुर और वर्धा जिलों में।

माला – बालाघाट, बेतूल, छिन्दवाड़ा, होशंगाबाद, जबलपुर, माण्डला, निमाड़ और सागर जिलों में।

मेहरा और महार – होशंगाबाद जिले की हरदार और सोहागपुर तहसीलों को छोड़कर शेष सारे प्रांत में।

नगाड़ची – बालाघाट, भण्डारा, छिन्दवाड़ा, माण्डला नागपुर और रायपुर जिलों में।

ओझा – बालाघाट, भण्डारा, माण्डला जिलों में तथा होशंगाबाद जिले की होशंगाबाद तहसील में।

पनका – बरार डिवीजन में, बालाघाट, भण्डारा, बिलासपुर, चान्दा, दुर्ग, नागपुर, रायपुर सागर और वर्धा जिलों में तथा सिवनी सब डिवीजन को छोड़कर शेष छिन्दवाड़ा जिले में।

पारधी – होशंगाबाद जिले की नरसिंहपुर सब डिवीजन में

प्रधान – बरार डिवीजन में, भण्डारा, चान्दा, नागपुर, निमाड़, रायपुर और वर्धा जिलों में तथा सिवनी सब डिवीजन को छोड़कर शेष छिन्दवाड़ा जिले में।

रज्झर – होशंगाबाद जिले की सोहागपुर तहसील में।

भाग–VIII असम

अनुसूचित जातियां

(1) असम घाटी में :–

कैवर्त्त
नाम शूद्र
बनिया या वृत्तियल हीरा
बाँसफोड़
लालबेगी
हीरा

(2) सुरमा घाटी में :–

कैवर्त्त या जलिया
झलो और मलो
डगला या धोबी
धुपी या धोबी
नामशूद्र
पटनी बाँसफोड़
मुची
मेहतर या भंगी
मेहरा, सूत्रधार

भाग–IX उड़ीसा

(1) प्रांत भर में अनुसूचित जातियां

आदि आंध्रा
झरिका
औधेलिया
कटिया
कांडरा
केला
गोडरि
गोडगलि
धुसुरिया
चचाति
चमार
चाण्डाल
धोबी
पंचमा, पनका
पाइडि
पमिडि
पैंडा
बारिक

कोडालो
गाँडा
गोखा
गोडरा
महुरिया
माला, मांग
मादिगा
मेहतर या भंगी
जग्गलि
डंडारी
देवर
धोबा
मेहरा या महार
मोची या मुची
रेल्ली
बाल्मीकि
बावुरि
बांसोर या बुरुढ़
मंगन
मदारी
सतमानी
सियाल
सुपरि
हड्डी या हाड़ी

(2) खोंदमल जिले को छोड़कर शेष सारे प्रांत में, सम्भलपुर जिले में और मद्रास प्रेसिडेंसी की विशाखापत्तनम् और गंजाम एजेंसियों से भारत सरकार (उड़ीसा का गठन) आदेश, 1936 के प्रावधानों के अंतर्गत उड़ीसा को अंतरिम भूमि भाग में : पान या पानो

(3) खोंदमल जिले और इसी प्रकार उड़ीसा को दिए गए भूमि भाग के अतिरिक्त शेष सारे प्रांत में : डोम या डम्बो

(4) सम्भलपुर जिले को छोड़कर शेष सारे प्रांत में : घासी या घसिया, तुरि, बौरो, भुइया, भूमिज

(5) सम्भलपुर जिले की नवपाडा सब डिवीजन में : कोरी, नगाड़ची और प्रधान जातियां।

यह दिल दहला देने वाली सूची है। इसमें 429 जातियां सम्मिलित हैं यदि इनकी संख्या घटाई जाए तो इसका मतलब है कि देश में आज 5-6 करोड़ लोग ऐसे हैं जिनके स्पर्श मात्र से हिंदू अशुद्ध हो जाते हैं। निश्चय ही आदिम तथा प्राचीन समाज में जो छुआछूत विद्यमान थी, वह इन भारत व्यापी करोड़ों लोगों की वंशानुगत अस्पृश्यता के मुकाबले में नगण्य है। हिन्दुओं की यह छुआछूत बहुत विचित्र है। संसार के इतिहास में इसकी तुलना नहीं है। एशिया और यूरोप की बहुत-सी जातियों की जनसंख्या से भी बड़ी जनसंख्या की अस्पृश्यता अपनी जनसंख्या की अधिकता के कारण अतुलनीय नहीं है, अपितु और दूसरे कारणों से भी बेमिसाल है।

इन 429 अछूत जातियों को अस्पृश्य बना देने वाली छुआछूत की हिन्दुओं की जीवन पद्धति में ऐसी विशेषताएं है जों अहिन्दू जातियों द्वारा बरती जाने वाली प्रथा में भी नहीं है चाहे वे आदिम युगीन हों अथवा प्राचीन कालीन।

अहिन्दू समाज ने अपवित्रता से बचे रहने के लिए पार्थक्य के जो नियम मान रखे हैं, ये तर्कसंगत नहीं भी माने जाएं तो भी समझने योग्य हैं। यह पार्थक्य जन्म, विवाह, मृत्यु आदि विशेष अवसरों पर होता है, किंतु हिंदू समाज का यह पार्थक्य अथवा यह अस्पृश्यता स्पष्ट: निराधार ही है।

आदिम समाज जिस अपवित्रता को मानता था वह थोड़े समय रहती थी और खाने-पीने आदि शारीरिक कार्यों तक सीमित थी। जीवन में जन्म, मृत्यु, मासिक धर्म आदि जो असाधारण अवसर होते हैं उन्हीं पर पैदा होती थी। अशुद्धता का समय बीत जाने पर शुद्धि संस्कार हो चुकने पर व्यक्ति की अपवित्रता नष्ट हो जाती थी और वह फिर शुद्ध व्यक्ति समाज में मिलने-जुलने के योग्य हो जाता था। किंतु इस विशाल संख्या की छुआछूत जन्म, मृत्यु आदि की अशुचिता से सर्वथा भिन्न है। यह आजीवन है जो हिंदू उनका स्पर्श करते हैं वे स्नानादि के द्वारा पवित्र हो सकते हैं किन्तु ऐसी कोई चीज नहीं जो अछूत को पवित्र बना सके। वे अपवित्र ही पैदा होते हैं और वे जन्म भर अपवित्र बने रहते हैं। वे अपवित्र ही बने रहकर मर भी जाते हैं और जिन बच्चों को जन्म देते हैं वे बच्चे भी अपवित्रता का कलंक माथे पर लगाए, पैदा होते हैं। यह एक स्थायी जन्म जन्मान्तर कलंक है जो किसी तरह धुल नहीं सकता।

तीसरी बात यह है कि अहिन्दू जो अशुद्धता से पैदा होने वाले पार्थक्य को मानते थे, वे उन व्यक्तियों को अथवा उनसे निकट सम्पर्क रखने वालों को ही पृथक करते थे। लेकिन हिन्दुओं को इस छुआछूत ने एक वर्ग के समूचे वर्ग को अस्पृश्य बना रखा है। एक वर्ग जिसकी जनसंख्या आज पांच-छ: करोड़ है।

चौथी बात यह है कि अहिन्दू उन व्यक्तियों को जो अपवित्रता से प्रभावित हो गए हों कुछ समय के लिए पृथक भले ही कर देते थे। वे उन्हें एकदम पृथक बसा नहीं देते थे। हिंदू समाज का आदेश है कि सब अछूत पृथक बसें। हिंदू अछूतों की बस्ती में नहीं रहेगा और वह अछूतों को अपनी बस्ती में रहने भी नहीं देगा। हिंदू छुआछूत को मानते हैं उसका वह महत्त्वपूर्ण अंग है। यह सामाजिक बहिष्कार मात्र नहीं है, थोड़े समय के लिए सामाजिक व्यवहार का बंद कर देना भी नहीं है। यह तो मुकम्मल क्षेत्रीय पार्थक्य (अलगाव) का उदाहरण है, अछूतों को एक कांटेदार तार के घेरे में अर्थात् एक पिंजरे में बंद कर देना है। हर हिंदू गांव में अछूतों के टोले हैं। हिंदू गांव में रहते हैं, अछूत गांव से बाहर टोले में बसते हैं।

ऐसी है यह हिंदू छुआछूत व्यवस्था, इससे कौन इंकार कर सकता है कि जो बुराई अहिन्दुओं में विद्यमान है वह उससे सर्वथा भिन्न नहीं है। यह निर्विवाद है कि हिंदुओं की छुआछूत एक बेमिसाल ही व्यवस्था है। अहिन्दू समाज में भी लोगों को

अपवित्र माना गया है, परंतु केवल व्यक्तियों को। सारी की सारी जाति को कभी कहीं अपवित्र नहीं माना गया और उनकी अपवित्रता अल्पकालीन होती थी तथा किसी शुद्धि की क्रिया द्वारा इसका निदान हो जाता था। एक बार अपवित्र, सदा के लिए अपवित्र, के सिद्धांत पर आधारित इस प्रकार की स्थायी छुआछूत कहीं देखने में नहीं आती। अहिन्दू समाज में लोगो को अपवित्र माना गया और उनका सामाजिक सम्पर्क भी बंद हुआ है लेकिन ऐसा कहीं नहीं हुआ कि वे एक वर्ग को अनन्त काल तक पृथक या अस्पृश्य बना दिया जाए। अहिन्दुओं ने एक जमात की जमात को अपवित्र मानकर उनके साथ वैसा बर्ताव किया है, लेकिन वे अजनबी की भांति बाह्य रहे हैं, रक्त सीमा के संबंधों के घेरे से बाहर। ऐसा कभी हुआ ही नहीं है कि किसी ने अपनी ही प्रजाति को पीढ़ी-दर-पीढ़ी और स्थायी रूप से अपवित्र बनाकर रखा हो।

इस प्रकार हिंदुओं की अस्पृश्यता एक अजीब दस्तूर है, संसार के किसी दूसरे हिस्से में आज तक कभी इसकी मिसाल नहीं मिलती। किसी दूसरे समाज में ऐसी चीज है ही नहीं। आदिम समाज में, प्राचीन समाज में अथवा वर्तमान समाज में छुआछूत के अध्ययन से जो अनेक समस्याएं होती हैं और जिसके हल करने की आवश्यकता है, उसका समावेश इन दो बातों में हो जाता है:-

(1) अछूत गांव से बाहर क्यों रहते हैं?

(2) उनकी अपवित्रता अनन्त और अनिवारणीय कैसे बन गई?

अगले पृष्ठों में इन्हीं दो प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयत्न किया गया है।

भाग दो

आवास की समस्या

अध्याय 3. अछूत गांव के बाहर क्यों रहते हैं?
अध्याय 4. क्या अछूत छितरे व्यक्ति हैं?
अध्याय 5. क्या ऐसे समानान्तर मामले हैं?
अध्याय 6. छितरे लोगों की अलग बस्तियां अन्यत्र कैसे विलुप्त हो गईं?

अध्याय 3

अछूत गांव के बाहर क्यों रहते हैं?

अछूत गांव के बाहर क्यों रहते हैं–यह इतना निंदनीय तथ्य है कि जिन लोगों को इस बारे में बहुत अधिक जानकारी नहीं है वे भी इसका इतना तो संज्ञान करते ही हैं अथवा उन्हें इतना तो मालूम ही है। फिर भी किसी व्यक्ति ने यह नहीं सोचा कि यह एक गंभीर मामला है जिसका संतोषजनक समाधान होना चाहिए। यह कैसे हुआ कि अछूत गांव के बाहर रहने लगे? क्या उन्हें पहले अछूत घोषित किया गया और फिर उन्हें गांव से बाहर निकाला गया और उन्हें बाहर रहने के लिए बाध्य किया गया? अथवा वे क्या पहले से ही गांव के बाहर रहते थे, और उन्हें कालांतर में अछूत घोषित कर दिया गया? यदि हमारा यह उत्तर हो कि वे पहले से ही गांव के बाहर रहते थे तो अगला प्रश्न यही होता है कि उसका कारण क्या हो सकता है?

चूंकि अछूतों के अलग आवास होने के प्रश्न पर पहले कभी किसी ने विचार ही नहीं किया, इसलिए स्वाभाविक तौर पर इस बारे में किसी का कुछ सिद्धांत नहीं है कि अछूत गांव के बाहर क्यों रहने लगे। यह तो हिंदू शास्त्रों का मत है और यदि कोई इसे सिद्धांत मानकर उचित कहें तो वह कह सकता है। शास्त्र कहते हैं कि अंत्यजों को गांव के बाहर रहना चाहिए और उनकी बस्ती गांव के बाहर होनी चाहिए।

उदाहरण के लिए मनु का कथन है:–

10.51. "चाण्डालों और खपचों का निवास गांव से बाहर हो। उन्हें अपपात्र बनाया जाए। उनका धन कुत्ते और गधे हों।"

10.52. "मुर्दों के उतरन (कफन) उनके वस्त्र हों वे फूटे बर्तनों में भोजन करें। उनके गहने काले लोहे के हों और वे सदैव जगह-जगह घूमते रहें।"

10.53. "धर्म धारण करता हुआ मनुष्य उनसे किसी प्रकार का सरोकार न रखे। उन्हें देखें भी नहीं। वे आपस में ही अपना सब व्यवहार रखें और वे अपने विवाह भी अपनी बराबरी वालों के साथ करें।"

10.54. भोजन उन्हें किसी नौकर आदि द्वारा टूटे हुए बर्तन में दिया जाए। रात को वे गांव या नगर में नहीं घूमें।

10.55. दिन में वे अपने काम के लिए जा सकते हैं किन्तु उन्हें राजाज्ञा से सचिन्ह होना चाहिए। हां, यह शास्त्रोक्त मर्यादा है कि वे ऐसे व्यक्तियों की लाश शमशान ले जावें जिनका कोई संबंधी न हो।

10.56. राजाज्ञा से वे दंड नीति के अनुसार सदैव अपराधियों का वध करें और वे उन अपराधियों के वस्त्र, बिस्तरे और गहने ले लें।

लेकिन शास्त्रों के इन कथनों का क्या निष्कर्ष निकाला जाए? उनकी दोहरी व्यवस्था की जा सकती है। जब शास्त्र कहते हैं कि अछूतों को गांव के बाहर रहना चाहिए, तो उनका इतना ही हो सकता है कि अछूतों को वहीं रहना चाहिए, जहां वे ठहरते हैं। यह एक व्याख्या है। दूसरी व्याख्या यह हो सकती है कि जिन्हें अछूत घोषित कर दिया गया है उन्हें गांव के अंदर रहने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए, बल्कि उन्हें गांव के बाहर जाकर अपने टोलों में रहने के लिए मजबूर करना चाहिए। शास्त्रों की इन दोनों व्याख्याओं से दो संभावनाएं उत्पन्न होती हैं। एक तो यह है कि अछूतों के गांव के बाहर जाकर रहने का छुआछूत से कोई संबंध नहीं। एकदम आरंभ से ही वे गांव के बाहर रहते आए हैं। उसके बाद जब उनके माथे पर अस्पृश्यता का कलंक लगा, तो उनका गांव में आना निषिद्ध हो गया। दूसरी संभावना यह है कि गांव से बाहर रह रहे अछूतों का अस्पृश्यता से पूरा-पूरा संबंध है। दूसरे शब्दों में अछूत पहले मूलतः गांव के अंदर रहते रहे हैं, बाद में जब उनके माथे पर छुआछूत का कलंक लगा तो वे गांव को खाली करके गांव से बाहर रहने पर मजबूर हुए।

इन दोनों बातों में से कौन-सी बात अधिक मान्य है।

दूसरी संभावना तो स्पष्ट तौर पर ही निरर्थक और बेसिर पैर की कल्पना है। इसके खोखलेपन को दिखाने के लिए एक ही तर्क काफी है। हम जिस बात पर विचार कर रहे हैं वह किसी गांव अथवा किसी एक क्षेत्र की बात नहीं है। यह समस्त भारतवर्ष में व्याप्त है। अछूतों को गांव से निकालकर बाहर बसाना बहुत बड़ी बात है। किसने और कैसे यह इतनी बड़ी व्यवस्था की होगी? यह किसी चक्रवर्ती राजा की आज्ञा के बिना नहीं हो सकती थी। उसके लिए भी उन्हें इस प्रकार एक जगह से हटाकर दूसरी जगह बसाना असंभव कार्य था। चाहे संभव हो चाहे असंभव हो यह किसी चक्रवर्ती राजा का ही कार्य हो सकता है। यह कौन सा चक्रवर्ती राजा है जिसे इसका जिम्मेदार ठहराया जा सकता है? स्पष्ट ही है कि भारत में कोई ऐसा राजा नहीं हुआ जिसने यह कार्य किया हो। यदि भारत में ऐसा कोई राजा नहीं हुआ

तो यह दूसरी संभावना छोड़ देनी चाहिए।

अब जिस बात पर विचार किया जा सकता है वह यही है कि जो लोग अछूत कहलाते हैं वे अछूत कहलाना आरंभ करने से भी पहले, एकदम आरंभ से ही गांव के बाहर रहते थे और बाद में अछूत बना दिए जाने के कारण उन्होंने बाहर ही रहना जारी रखा। लेकिन इससे एक बहुत ही कठिन प्रश्न पैदा होता है कि वे गांव के बाहर क्यों रहते थे? उन्हें ऐसा करने के लिए किसने मजबूर किया? इसका उत्तर यही है कि समाज शास्त्र के विद्यार्थी को संसार भर में आदिम समाज के वर्तमान रूप धारण करने के संबंध में जिन बातों की जानकारी है उनका ख्याल करके यही मानना स्वाभाविक लगता है कि अछूत आरंभ से ही गांव के बाहर रहते आए हैं।

जब तक उन बातों की कुछ व्याख्या न कर दी जाए जिनके कारण आदिम समाज ने वर्तमान स्वरूप ग्रहण कर लिया तब तक शायद अधिकांश लोग यह नहीं समझ सकेंगे कि उपर्युक्त मत स्वाभाविक क्यों है। इस बात को अच्छी तरह समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम यह ध्यान रखें कि वर्तमान समाज आदिम समाज से दो बातों में भिन्न है। आदिम समाज खानाबदोश जातियों का बना था और वर्तमान समाज स्थिरतापूर्वक एक जगह बनी बस्तियों का जाति समूह है, तथा आदिम समाज रक्त संबंध पर आधारित कबीलों का एक समूह था। वर्तमान समाज नस्लों का समूह है। दूसरे शब्दों में आदिम समाज ने वर्तमान स्वरूप तक पहुंचने के लिए दो तरफ अपना विकास किया। विकास की एक धारा ने आदिम समाज को कबायली अवस्था से लेकर नस्ल की अवस्था तक पहुंचा दिया। इसमें कोई संदेह नहीं कि ऐसा परिवर्तन हुआ है। इस प्रकार के परिवर्तन के स्पष्ट चिन्ह राजकीय उपाधियों में दिखाई देते हैं। अंग्रेजी राजाओं की उपाधियों को ही लीजिए। जॉन ही वह पहला सम्राट था जिसने अपने आपको इंग्लैंड का सम्राट कहा। उसके पूर्वज सामान्यतया अपने आपको अंग्रेजों का राजा कहते आए थे। पहला कथन एक प्रजाति का प्रतिनिधित्व करता है दूसरा एक परिवार जाति का। इंग्लैंड कभी एक देश था जहां अंग्रेज निवास करते थे। अब अंग्रेज वे लोग हैं जो इंग्लैंड में निवास करते हैं। इसी प्रकार का परिवर्तन फ्रांसीसी राजाओं की उपाधियों में दिखाई देता है कभी वे फ्रांसीसियों के राजा कहलाते थे, किंतु आगे चलकर फ्रांस के राजा कहलाने लगे।

विकास की दूसरी धारा ने आदिम समाज को घुमन्तु समाज न रहने देकर एक स्थिर समाज बनाया। यह परिवर्तन भी इतना निश्चित और प्रभावोत्पादक है कि इसकी वास्तविकता का विश्वास कराने के लिए किसी उदाहरण की आवश्यकता नहीं।

इस समय हमें अपने उद्देश्य के लिए इतना कहना पर्याप्त है कि हम विकास

की दूसरी धारा पर विचार करें। आदिम समाज किस प्रकार घुमन्तु समाज ने रहकर स्थिर बसा हुआ समाज बन गया? आदिम समाज के खानाबदोश कबीले न रहकर बस्तियों में बसा हुआ समाज बनने की कथा इतनी अधिक लंबी है कि वह एक अध्याय में आ नहीं सकती। केवल दो बातों की ओर ध्यान देना काफी होगा। जानने की पहली बात यही है कि किस चीज ने समाज में उसका घुमन्तु जीवन छुड़ा दिया। दूसरे घुमन्तु जीवन से स्थिर जीवन तक पहुंचने के बीच उसे किस-किस अवस्था में से गुजरना पड़ा?

निःसंदेह आदिम समाज घुमन्तु समाज था किंतु यह घुमन्तु अपने किसी घुमक्कड़ स्वभाव विशेष के कारण नहीं था। इसका कारण यही था कि उस समाज का व्यवसाय पशुपालन था। इसलिए वे नए चरागाहों की खोज में घूमते थे। आदिम समाज अपने पशु प्रेम के कारण जहां-जहां पशु ले जाते वहां चले जाते थे। कालांतर में आदिम कबीलों का निवास स्थिर हो गया। किंतु उसी समय उसे एक नई संपदा का पता चला। यह नई संपदा भूमि थी। यह उस समय हुआ जब आदिम समाज ने खेती करने और खेत जोतने की कला सीख ली। जब उसका धन पशुओं, भूमि में परिवर्तित हो गया और मात्र पशुपालन से भूमि में परिवर्तन होने से धन एक जगह स्थिर हो गया। इस परिवर्तन के साथ-साथ आदिम समाज भी स्थिर होकर एक जगह बस गया।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आदिम समाज किसी समय खानाबदोश समाज क्यों था और फिर उसने एक जगह स्थिर होकर रहना क्यों सीख लिया।

ध्यान देने की दूसरी बात यह है कि जब आदिम समाज घुमन्तु जीवन छोड़ने की ओर अग्रसर था उस समय क्या घटनाएं घटीं। घुमन्तु जीवन को छोड़कर स्थिरता का जीवन ग्रहण करने पर आदिम समाज के सामने मुख्य रूप से दो समस्याएं सामने आईं। एक तो वह थी जो एक जगह बस जाने वालों के सम्मुख आई और दूसरी वह थी जो छितरे हुए कबीलों के सम्मुख आई। एक जगह बस जाने वाली जातियों के सामने समस्या थी कि वे दूसरे घुमन्तु कबीलों से अपनी रक्षा कैसे करें। छितरे लोगों के सामने सुरक्षा और शरण स्थल की समस्या थी। इसे और अधिक विस्तार से बताना आवश्यक हो सकता है कि ये समस्याएं क्यों और कैसे उत्पन्न हुई हैं।

एक जगह बस जाने वाली जातियों के सामने जो समस्या आई उसे समझने के लिए निम्नलिखित बातों की ओर ध्यान देना होगा। सभी घुमन्तु कबीले अथवा जातियां एक ही समय स्थिर नहीं हुई थीं। कुछ स्थिर हो गईं, कुछ घुमन्तु बनी रही। याद रखने की दूसरी बात यह है कि ये कबीले अथवा जातियां कभी आपस में एक दूसरे के साथ शांति से नहीं रहे। ये हमेशा आपस में युद्ध करते रहे। जब ये कबीले घुमन्तु थे तो उनका मुख्य कारण आपस में युद्ध करना ही रहा। जैसे (1) पशुओं की चोरी (2) स्त्रियों का हरण (3) दूसरे कबीलों अथवा जातियों के चरागाहों में पशुओं

को जबरदस्ती हांक लेना। जब कुछ कबीले अथवा जातियां अभी तक घुमन्तु जीवन व्यतीत कर ही रही थीं तो उनके लिए एक जगह बसे हुए लोगों के साथ टकराव और भी आसान हो गया। दूसरे खानाबदोश लोगों के साथ लड़ाई करने की अपेक्षा इसमें अधिक लाभ था। खानाबदोश जातियों की समझ में यह बात आ गई थी कि एक स्थान पर बस जाने वाली जातियों के पास दोहरी सम्पति थी। घुमन्तु कबीलों की तरह ही इनके पास भी पशु थे और इसके अतिरिक्त उनके पास भूमि थी जिसे देखकर घुमन्तु लोगों को लालच होता था। घुमन्तु कबीले स्थिर बसी हुई जातियों पर लगातार संगठित रूप में आक्रमण करते थे, जिससे वे उनका धन ले जा सकें। तीसरी बात यह है कि एक जगह बसी हुई जातियां इन घुमन्तु कबीलों से अपनी रक्षा करने के मामले में कमजोर थीं। क्योंकि वे अधिक लाभ के धंधे में लग गई थीं। इसलिए वह व्यवसाय की अनदेखी करके मारकाट में ही नहीं लगी रहना चाहती थीं। वे अपने घर छोड़कर इन घुमन्तु कबीलों का पीछा भी नहीं कर सकती थीं। इसमें कुछ भी आश्चर्य की बात नहीं है। इतिहास बताता है कि जिन लोगों के पास अपनी रक्षा के साधन नहीं होते थे दूसरे असभ्य लोगों का मुकाबला नहीं कर सकते थे। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि खानाबदोश जातियां जब एक जगह बसने लगीं तो उनके सामने आत्म रक्षा की समस्या क्यों और कैसे उपस्थित हुई।

उधर यह समझना कठिन नहीं कि छितरे हुए लोगों की समस्या कैसे उत्पन्न हुई।

यह कबीलों के निरंतर युद्ध का ही परिणाम है, जो कबीलों की उस आदिम अवस्था में उन कबीलों अथवा जातियों का सामान्य जीवन था। इन कबीलों के युद्धों में प्रायः ऐसा होता था कि एक कबीलों का सर्वथा सफाया तो नहीं होता था किंतु वह परास्त होकर बिखर जाता था। बहुधा जो दल परास्त हो जाता था वह टुकड़े-टुकड़े हो जाता था। इसके परिणामस्वरूप समाज के विकास की आदिम अवस्था में एक बड़ी जनसंख्या जो इसी प्रकार परास्त होकर बिखरे लोगों की थी इधर-उधर घूमती रहती थी यह समझने के लिए कि इन छितरे-बिखरे हुए लोगों की समस्या क्यों उत्पन्न हुई, इस बात को समझना आवश्यक है कि आदिम समाज का संगठन कबीलाई था। ऐसा होने के दो अर्थ थे। पहला यह कि आदिम समाज में प्रत्येक व्यक्ति का किसी न किसी कबीले से संबंध था। इतना ही नहीं उसे किसी न किसी कबीले का होकर रहना पड़ता था तभी उसका अस्तित्व था। दल से बाहर किसी व्यक्ति का कोई अस्तित्व न था, या हो ही नहीं सकता था। दूसरे कबीलाई संगठन का आधार रक्त का संबंध था और कोई भी व्यक्ति जो एक कबीले से पैदा हुआ हो तो वह दूसरे कबीले में सम्मिलित

नहीं हो सकता था। इसलिए उसे कबीले में व्यक्तिगत हैसियत में ही रहना पड़ता था। वह दूसरे कबीले में समाज में जहां एक कबीले का दूसरे कबीले से संग्राम हो रहा हो, इस बात का सदैव डर बना रहता था कि इधर-उधर फैले लोगों के इन समूहों पर भी आक्रमण न हो जाए। वे नहीं जानते थे कि कहां शरण ढूढें। वे नहीं जानते थे कि उन पर कौन आक्रमण कर दे और कौन उनकी रक्षा करेगा। इसलिए आश्रय स्थान मिलना और सुरक्षित रह पाना इन छितरे हुए लोगों की समस्या बन गई।

आदिम समाज के विकास के बारे में ऊपर जो कुछ संक्षिप्त रूप में कहा गया है उससे यह स्पष्ट होता है कि आदिम समाज के जीवन में एक समय था जब वह दो समूहों में विभक्त हो गया था। एक समूह एक जगह बसे हुए आदमियों का था। उनकी समस्या थी कि उन्हें ऐसे लोग मिलें जो घुमन्तु आक्रमणकारियों के विरुद्ध उनकी पहरेदारी का काम करें। दूसरा समूह उन छितरे हुए परास्त लोगों का था जिनके सामने यह समस्या थी कि उन्हें कोई ऐसे संरक्षण मिल जाएं जो भोजन तथा शरण स्थान दे सकें।

अगला प्रश्न यह है कि इन दोनों समूहों ने अपनी समस्या को कैसे सुलझाया यद्यपि हमारे पास प्राचीन काल का कोई ऐसा दस्तावेज नहीं है जिसके आधार पर हम निश्चयात्मक रूप से यह कह सकें कि दोनों में किसी प्रकार का करार अथवा समझौता हुआ हो तो भी हम कह सकते हैं कि दोनों ने आपस में समझौता किया, जिसके अनुसार इन छितरे हुए परास्त लोगों ने एक जगह स्थिर रूप से बसी हुई जातियों की चौकीदारी अथवा पहरेदारी करनी स्वीकार कर लिया। एक जगह स्थिर रूप से बड़ी जातियों ने उन्हें भोजन तथा शरण स्थान देना स्वीकार किया। वास्तव में यह बड़ा अस्वाभाविक होता यदि इस प्रकार की आपसी व्यवस्था न कर ली गई होती, क्योंकि दोनों को अपने-अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए एक दूसरे की मदद चाहिए थी।

इस सौदे में एक कठिनाई अवश्य उत्पन्न हुई होगी-शरण स्थान की कठिनाई। छितरे हुए आदमी कहां रहें। स्थिर रूप से बसे हुए लोगों के बीच में अथवा उनसे दूरी पर? इस समस्या को हल करने में दो बातें निर्णायक सिद्ध हुई होंगी-एक तो रक्त संबंध की, दूसरी युद्ध नीति की। आदिम लोगों की मान्यताओं के अनुसार रक्त संबंधी ही एक साथ रह सकते थे। कोई भी बाहरी आदमी उस क्षेत्र में प्रवेश नहीं पा सकता था जहां किसी कबीले विशेष का अधिकार हो। ये छितरे हुए आदमी "बाहरी" थे। वे उस कबीले के थे जो स्थिर रूप से बसे हुए लोगों से भिन्न था। यदि ऐसा था तो उन्हें स्थिर रूप से बसे हुए आदमियों के बीच में नहीं रहने दिया जा सकता था।

युद्धरीति के विचार से भी यह आवश्यक था कि ये बाहर से आए हुए लोग गांव की सीमा पर रहें ताकि वे आक्रमणकारियों का मुकाबला कर सकें। इन दोनों बातों ने मिलकर यही निर्णय कराया कि वे लोग गांव के बाहर गांव की सीमा पर रहें।

अब हम अपने मुख्य प्रश्न पर आते हैं। अछूत गांव के बाहर क्यों रहते हैं? ऊपर जो स्थिति बताई गई है, उसके हिसाब से उस प्रश्न का उत्तर पाने का कुछ प्रयत्न किया जा सकता है। यही बात जो अन्यत्र हुई वह भारत में भी हुई होगी, जबकि घुमन्तु जीवन को छोड़ हिंदू समाज स्थिर जीवन की ओर अग्रसर था। आदिम समाज में दोनों तरह के लोग रहे ही होंगे–स्थिर रूप से बसे हुए और छितरे हुए परास्त लोग। जो स्थिर रूप से बसे, उन्होंने गांव की बुनियाद डाली और गांव में बसे। छितरे हुए परास्त लोग वे थे जो भिन्न कबीले के थे। इसलिए भिन्न रक्त होने के कारण गांव के बाहर बसे।

यह सिद्धांत इतना नया है कि आलोचकों को अपने और प्रश्नों का उत्तर मिले बिना संतोष हो ही नहीं सकता। वे पूछ सकते हैं :–

(1) क्या इसका कोई ठोस प्रमाण है कि अछूत छितरे हुए व्यक्ति ही हैं?

(2) क्या इस बात का कोई प्रमाण है कि स्थिर रूप से बसने के जिस क्रम की ऊपर चर्चा की गई है, वैसा किसी अन्य देश में भी हुआ है?

(3) क्या छितरे हुए लोगों का गांव के बाहर रहना सभी संगठनों का सर्वव्यापी पहलू है।

सामाजिक तथा आर्थिक पुनर्निर्माण के आमूल परिवर्तनवादी कार्यक्रम के बिना अस्पृश्य कभी भी अपनी दशा में सुधार नहीं कर सकते।

– डॉ. भीमराव अम्बेडकर

अध्याय 4

क्या अछूत छितरे व्यक्ति हैं?

यदि यह प्रश्न पूछा जाए कि क्या अछूत मूल में छितरे व्यक्ति ही हैं तो मेरा उत्तर है "हां"। हां, कहने पर अपने कथन को प्रमाणित करना पड़ता है। यदि किसी ने हिंदू गांव के छूत और अछूत लोगों के परंपरागत टोटम अथवा जाति चिन्ह का अध्ययन किया होता तो इस संबंध के यथार्थ प्रमाण मिल सकते थे। दुर्भाग्य से हिंदुओं और अछूतों के जातीय चिन्हों के संस्थान के अध्ययन को नृवंश शास्त्र के विद्यार्थियों ने आरंभ ही नहीं किया है। जब इस प्रकार की सामग्री इकट्ठी हो जाएगी तो हम इस परिच्छेद में उठाए गए प्रश्न पर निर्णयात्मक सम्मति दे सकेंगे। फिलहाल मैंने जो थोड़ी बहुत खोज की है उससे मैं संतुष्ट हूं कि ग्राम विशेष के अछूतों के गणदेव उसी गांव के हिंदुओं के गण देवों से भिन्न हैं।

इस बात के पक्ष में कि अछूत छितरे हुए व्यक्ति हैं और गांव में बसने वाली जाति जिस वर्ग की है उससे वे भिन्न दल के हैं, हिंदुओं और अछूतों के गण देवों की भिन्नता ही सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है। लेकिन यह स्वीकार करना होगा कि इस प्रकार की सामग्री एकत्रित करने की आवश्यकता है लेकिन कुछ ऐसी बातें हैं जो स्पष्ट होने से रह गई हैं, वे कुछ दिशा का निर्देश करती हैं कि अछूत छितरे हुए व्यक्ति थे। इस तरह का प्रमाण देने वाली बातें दो प्रकार की हैं।

एक तथ्य अन्त्यज और अन्त्यवासिन नाम है जो हिंदूशास्त्रों ने कुछ जातियों को दे रखे हैं। वे बहुत प्राचीन समय से चले आ रहे हैं। कुछ वर्ग के लोगों के लिए ही इन नामों का उपयोग क्यों किया गया है? इन शब्दों में कुछ अर्थ छिपा हुआ प्रतीत होता है। ये शब्द निर्विवाद रूप से व्युत्पत्तिजन्य नाम हैं। वे अंत धातु से निकले हैं। अंत शब्द का अर्थ क्या है। हिंदू पंडितों का कहना है कि जो अंत में उत्पन्न हुआ और क्योंकि हिंदुओं की दैवी उत्पत्ति के सिद्धांत के अनुसार अछूतों की उत्पत्ति अंत में हुई, इसलिए अन्त्यज शब्द का अर्थ हुआ एक अछूत। यह तर्क बेहूदा है, और हिन्दुओं की उत्पत्ति के सिद्धांत से मेल नहीं खाता। क्योंकि इस सिद्धांत के अनुसार

तो शूद्र अंत में पैदा हुए। अछूत तो ब्रह्मा की सृष्टि रचना से बाहर का प्राणी है। शूद्र सवर्ण हैं। इसके विपरीत अछूत अवर्ण हैं। वर्ण व्यवस्था से ब्रह्मा की सृष्टि रचना के बारे में हिंदुओं का पहले और पीछे का सिद्धांत अछूतों पर लागू नहीं होता। मेरी समझ में अन्त्यज का अर्थ सृष्टि क्रम का अंत नहीं अपितु गांव का अंत है। यह एक नाम है जो गांव की सीमा पर रहने वाले लोगों को दिया गया है। इस अन्त्यज शब्द का ऐतिहासिक महत्त्व है। यह बताता है कि समय था जब कुछ लोग गांव में रहते थे और कुछ गांव के कोने पर, गांव के अंत में रहते थे। वे अन्त्यज कहलाते थे।

कुछ ही लोग गांव की सीमा पर क्यों रहते थे? क्या इसका इसके अतिरिक्त कोई अन्य कारण हो सकता है कि वे मूल कबीलों से छितरे हुए लोग थे। और वे उस कबीले के बाहर के थे जिस वर्ग के लोग गांव के भीतर रहते थे। यही खास कारण था। यह बात इस शब्द में भी छिपी है जिसका इन लोगों के लिए प्रयोग किया गया है। इस प्रकार अन्त्य, अन्त्यज, अन्त्यवासिन शब्दों के प्रयोग का दोहरा अर्थ है। पहले तो इससे प्रकट होता है कि गांव के बाहर पृथक आवास एक ऐसी अनोखी बात थी कि जिसके लिए नये शब्दों की रचना करनी पड़ी। दूसरे इन शब्दों का जिन लोगों के लिए प्रयोग हुआ है उनकी तात्कालिक अवस्था को यथार्थ रूप से चित्रित कर देते हैं, अर्थात यह बता देते हैं कि वे पराये थे।

दूसरा तथ्य यह है कि अछूत छितरे हुए लोग हैं और महार नाम की एक जाति से संबंधित हैं। महाराष्ट्र में महार ही मुख्य अछूत जाति है। यह महाराष्ट्र की अकेली सबसे बड़ी मुख्य अछूत जाति है। महारों और दूसरे हिंदुओं का आपसी संबंध स्पष्ट करने वाली निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं– (1) महार हर गांव में मिलते हैं। (2) महाराष्ट्र में हर गांव के गिर्द एक दीवार रहती है और महार उस दीवार के बाहर रहते हैं। (3) महार बारी-बारी से गांव की पहरेदारी करते हैं। (4) महार हिंदू गांववासियों के विरुद्ध अपने 52 अधिकारों का दावा करते हैं। इसमें सबसे मुख्य ये हैं :

(1) गांव के लोगों से खाना इकट्ठा करने का अधिकार।

(2) फसल के समय हर गांव से अनाज इकट्ठा करने का अधिकार।

(3) गांव में जो पशु मर जाए उसके शव अपने उपयोग में लाने का अधिकार।

महारों की स्थिति से जो बात प्रमाणित होती है निःसंदेह वह केवल महाराष्ट्र तक ही सीमित है। इस बात की अभी खोज करनी बाकी है कि क्या भारत के दूसरे प्रांतों

में ऐसी स्थिति है या नहीं? लेकिन यदि महारों की स्थिति को भारतव्यापी अछूतों की स्थिति का एक नमूना मान लें तो यह स्वीकार करना होगा कि भारत के इतिहास में एक ऐसा समय आया होगा जब दूसरे कबीलों के छितरे हुए लोग एक जगह स्थिर रूप से बसे हुए लोगों के पास आए और उनसे इस प्रकार का सौदा किया जिससे उन छितरे हुए आदमियों को गांव की सीमा पर बसने की अनुमति मिल गई हो। उन्हें कुछ सेवाएं देनी पड़ती थीं और बदले में उन्हें कुछ रियायतें भी मिल गईं। महारों के बारे में अनुश्रुति है– "इनके 52 अधिकार उन्हें बरार के मुस्लिम राजाओं से प्राप्त हुए हैं।" इसका मतलब केवल इतना ही हो सकता है कि वे अधिकार तो प्राचीन ही हैं, किन्तु इन्हें बरार के राजाओं ने नये सिरे से मान्यता दी होगी।

ये तथ्य यद्यपि बहुत मामूली हैं तो भी इनसे इतना तो प्रमाणित होता है कि आरंभ से ही अछूत गांव के बाहर रहते आए हैं। ऐसा नहीं हुआ कि उन्हें अछूत बनाया गया हो और तब उन्हें गांव के बाहर जाकर रहने पर मजबूर किया गया हो। वे आरंभ से ही गांव के बाहर रहते आए हैं क्योंकि वे किसी अन्य कबीले से बिछड़े थे जो ग्रामवासियों से भिन्न था।

इस बात को स्वीकार करने में जो सबसे बड़ी कठिनाई है वह यह प्रश्न है कि अछूत सदा अछूत ही क्यों चले आए हैं? यह समस्या तब तुरंत हल हो जाएगी, जब एक बार यह बात समझ में आ जाए कि आज के अछूतों के पूर्वज अछूत नहीं थे बल्कि गांववासियों की तुलना में छितरे हुए लोग थे, उनमें और दूसरे लोगों में यदि कोई भेद था तो इतना ही कि वे पृथक कबीलों के लोग थे।

स्पृश्यों तथा अस्पृश्यों के बीच एकता कानून के बल पर नहीं लाई जा सकती।... केवल प्रेम ही उन्हें एकता के सूत्र में पिरो सकता है।

– डॉ. भीमराव अम्बेडकर

अध्याय 5

क्या ऐसे समानान्तर मामले हैं?

क्या इतिहास में कहीं और भी ऐसे मामले हैं जहां छितरे हुए लोग गांव के बाहर बसते थे। इस प्रश्न का "सकारात्मक" उत्तर दिया जा सकता है। सौभाग्य से हमारे पास ऐसे उदाहरण हैं जो यह प्रमाणित करते हैं कि जो भारत में विशेष रूप से घटित बताया जाता है वह अन्यत्र भी हुआ है। जिन देशों में इसी तरह की घटनाएं घटी बताई जाती हैं उनके नाम आयरलैंड और वेल्स हैं।

आदिम समय में आयरलैंड के गांव का संगठन कैसा था यह ब्रेहन के आयरलैंड के कानूनों में मिलता है। इन कानूनों से जो प्रतीत होता है उसकी कुछ कल्पना सर हेनरी मेन[1] द्वारा दिए गए निम्नलिखित सारांश से हो जाती हैं। हेनरी मेन का कहना है–

ब्रेहन का कानून कबीलों की उस अवस्था का चित्रण करता है जब कबीलों अथवा कुल को किसी भूमि पर बसे काफी समय गुजर चुका हो। इसका आकार और महत्त्व इतना अवश्य था कि वह एक राजनीतिक इकाई बन सके और सम्भवत: उनका संरक्षक अनेक प्रमुखों में से एक था, जिसे आयरलैंड के लेखों में राजा कहा गया है। मौलिक अनुमान सत्य है कि जितना भी कबायली क्षेत्र है वह सारे के सारे कबीले का है किंतु वास्तव में इसके बड़े-बड़े हिस्सों पर कबीलों के छोटे-छोटे कुलों का स्थायी अधिकार हो गया है उसका एक हिस्सा मुखिया के लिए निश्चित है और उत्तराधिकार के लिए विशेष नियम के अनुसार उसके उत्तराधिकारियों के लिए दूसरे हिस्से कबीले के अधिकार में हैं, जिनमें से कुछ छोटे मुखियाओं के अधीन हैं, और कुछ ऐसे हैं जिन पर यद्यपि किसी मुखिया का सीधा अधिकार नहीं है तो भी कुलीन वर्ग का कोई न कोई व्यक्ति ही उनका प्रतिनिधित्व करता है। कबीलों की जितनी भूमि पर किसी व्यक्ति विशेष ने अधिकार नहीं किया उस सारी भूमि पर विशेष रूप से कबीले का सामूहिक अधिकार होता है, और सिद्धांत रूप में किसी हिस्से पर भी

---

[1] अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्सट्टीटयूशंस–व्याख्यान तीसरा, पृ. 92-93

अस्थायी अधिकार ही हो सकता है। इस प्रकार का अस्थायी अधिकार प्राय: होता रहता है और इस शर्त पर जमीन पर अधिकार करने वाले कबीले के कबायली लोगों में कुछ ऐसे लोग हैं जो अपने आपको कबायली कहते हैं, किंतु जो वास्तव में मुख्य रूप से पशु चराने के उद्देश्य से आपस में इकट्टे होकर समझौता किये हुए होते हैं। कबायली भूमि के एक बड़े हिस्से पर किसी का भी अधिकार नहीं होता है। वह कबीले की परती भूमि है। इतना होने पर भी इस भूमि पर लगातार खेती होती है या कबायलियों द्वारा स्थायी तौर पर पशु चराये जाते हैं और इस पर विशेष रूप से सीमा की ओर खेती करने तथा काश्तकारों को रहने दिया जाता है। यह उस भूमि का एक हिस्सा है, जिस पर मुखिया का अधिकार लगातार बढ़ता है, और वह अपने "फयूदहिर" या नवागंतुकों को बसाता है, जिनमें किसानों का एक महत्त्वपूर्ण वर्ग है। न्यायवाह्य और छितरे हुए आदमी होते हैं जो उसके साथ सुरक्षा के लिए आते हैं जो उनकी जिम्मेदारी अपने ऊपर लेताहै।

"फयूदहिर कौन थे" सर हेनरी मेन के मतानुसार:– "दूसरे प्रदेशों से आने वाले अथवा शरणार्थी" जिनका अपने मूल कबीले से संबंध टूट चुका था यह संबंध जो उन्हें अपनी जाति में एक स्थान देता था वे लोग नये स्थान में नये कबीले में जगह पाने के लिए प्रयत्नशील थे। समाज एकदम अस्त-व्यस्त हो गया था। इसका परिणाम यही हुआ कि सारा देश छितरे हुए लोगों के वर्ग से भर गया। इन लोगों के लिए "फयूदहिर" किसान बन जाना ही एक मात्र आश्रय और सुरक्षा पाने का उपाय था।

"फयूदहिर" "कबीले" का आदमी नहीं था, उस कबीले से पराया व्यक्ति था जिसका संबंध अपने समाज से टूट गया। रक्त संबंध से जुड़े सभी समाजों में उस व्यक्ति की स्थिति बड़ी दयनीय होती थी। किसी भी व्यक्ति की बड़ी ही दुर्दशा होती है जो पराया होता है, जो स्वाभाविक स्थिति है वह तो जाती ही रहती है उनके पास इसके सिवा कोई चारा भी नहीं रहता।

अब वेल्स का उदाहरण लें। श्री सीभोम ने आदिम काल के वेल्स के ग्रामों के संगठन का वर्णन किया है[1]। सीभोम के मत के अनुसार वेल्स का गांव परिवारों के घरों का समूह था। परिवार दो भागों में बंटे थे। स्वतंत्र किसानों के घर तथा पराधीन किसानों के घर। श्री सीभोम ने कहा है कि यह पृथक-पृथक निवास वेल्स के आदिम काल के गांवों की सामान्य बात थी। यह पराधीन किसान पृथक और दूरी पर क्यों बसाए

---

[1] दि ट्राइबल सिस्टम इन वेल्स, पृ. 9

2. दि ट्राइबल सिस्टम इन वेल्स, पृ. 54-55

गए थे? श्री सीभोम ने इस पृथकता का कारण इस प्रकार बताया है[2]:–

यकायक देखने पर वेल्स के प्राचीन कानूनों में जिन कबायली लोगों तथा दूसरे कबीले के मानव वर्गों का उल्लेख है उनमें गोरखधंधा मालूम होता है। यह पहेली तभी हल होती है जब उस कबीले के गठन का बुनियादी नियम समझ में आ जाए। इसे विजय और भूमि की स्थायी व्यवस्था की उलझनों से और विदेशी कानून, रीति-रिवाज और नामावली के आक्रमणों से अलग रखा जाए। यह सिद्धांत ऊपरी दृष्टि से एकदम सरल लगता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि कबीलों का मूलभूत सिद्धांत स्वतंत्र कबीलों का आपसी रक्त संबंध पर आधारित था, कुछ भी हो, जो संबंधी न हो, वह कबीले का नहीं हो सकता था। "कबीला" भी वास्तव में वेल्स के संबंधियों का एक समूह ही था। आमतौर पर वेल्स की कबीलाई पद्धति में दो वर्ग थे–वेल्स रक्त वाले और भिन्न रक्त वाले। भूमि व्यवस्था अथवा विजय की किसी बात से एकदम असम्बद्ध इन दोनों दलों में यदि इसे अनुलंघनीय भी माना जाए तो भी एक बहुत ही चौड़ी खाई थी। यह था रक्त का भेद और यह शीघ्र ही स्पष्ट हो जाता है कि जिस उद्देश्य से इस भेद को बनाए रखा गया है वह कबीलाई पद्धति का एक विशेष प्रतीक है और साथ ही उसकी शक्ति का एक छिपा हुआ रहस्य भी।

आदिम काल में आयरलैंड और वेल्स के गांवों की संरचना के इस वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि भारत के अछूत ही अकेले ऐसे नहीं हैं जो गांव से बाहर रहते हों। इससे सिद्ध होता है कि यह एक सर्वव्यापी परम्परा थी और इसकी निम्नलिखित विशेषताएं थीं –

(1) आदिम युग में गांव की बस्तियां दो हिस्सों में विभाजित थीं। एक हिस्से में एक कबीले के लोग रहते थे और दूसरे में दूसरे कबीलों के छितरे हुए लोग रहते थे।

(2) बस्ती का वह भाग जहां मूल कबीले के लोग रहते थे, गांव कहलाता था। छितरे हुए लोग गांव के बाहर रहते थे।

(3) छितरे लोगों को गांव से बाहर करने का कारण यह था कि वे पराये थे और उनका इस कबीले से कोई संबंध नहीं था।

भारत के अछूत और आयरलैंड के फयुदहिर और वेल्स के अल्त्यूर्द के उदाहरण में पूरा तालमेल है। जिस कारण से आयरलैंड में फयूदहिर और वेल्स में अल्त्युद लोगों को गांव से बाहर रहना पड़ता था, उसी कारण से भारत के अछूत गांवों से बाहर रहते आए हैं। इससे यह बात स्पष्ट है कि अछूतों के गांव के बाहर रहने के बारे में जो कुछ कहा गया है उसके उदाहरण अन्यत्र भी विद्यमान हैं।

सही राष्ट्रवाद है, जाति-भावना का परित्याग, और जाति-भावना गहन सांप्रदायिकता का ही रूप है।

– डॉ. भीमराव अम्बेडकर

अध्याय 6

छितरे लोगों की अलग बस्तियां अन्यत्र कैसे विलुप्त हो गईं?

यह बात सत्य है कि आयरलैंड के फयूदहिर और वेल्स के अल्त्यूद छितरे लोग थे। यह भी बात ठीक है कि वे पृथक बस्तियों में रहते थे लेकिन यह भी सत्य है कि उन छितरे लोगों की अलग बस्तियां लुप्त हो गईं और वे स्थायी रूप से गांवों में बसी हुई जातियों के भाग या अंग बन गए और उन्हीं में घुल मिल गए। यह एक अनोखी बात है। अभी तक जिस सिद्धांत का प्रतिपादन किया है उसके अनुसार छितरे लोगों को गांव से बाहर इसलिए बसाया गया था क्योंकि वे भिन्न कबीलों के थे। बाद में उन्हें उन कबीनों ने अपने में कैसे शामिल कर लिया? भारत में भी ऐसा क्यों नहीं हुआ? ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जो स्वाभाविक हैं और जिनका उत्तर मिलना आवश्यक है।

यह प्रश्न ठोस रूप से विकास की उस प्रक्रिया से जुड़ा है जिससे गुजर कर आदिम समाज ने वर्तमान रूप धारण किया है। जैसा पहले भी कहा गया है कि यह विकास दो परिस्थितियों में हुआ है। एक तो आदिम समाज का घुमन्तु होना, दूसरा आदिम समाज का कबायली अवस्था से क्षेत्रगत अवस्था अथवा स्थिरता की अवस्था को प्राप्त होना। जिस प्रश्न से हमें तुरंत संबंध है वह विकास की दूसरी धारा से संबंधित है, क्योंकि रक्त की समानता के स्थान पर क्षेत्र की समानता की एकता का बंधन चुना जाना ही वह कारण है जिससे छितरे लोगों की पृथक बस्तियां नष्ट हो गईं। आदिम समाज ने रक्त की समानता के स्थान पर क्षेत्र की समानता को एकता का बंधन क्यों स्वीकार कर लिया? यह एक प्रश्न है कि जिसका कोई संतोषजनक उत्तर मौजूद नहीं है। परिवर्तन का मूल कारण अज्ञात है। हां यह स्पष्ट है कि यह परिवर्तन कैसे हुआ।

एक खास अवस्था पर पहुंचने पर आदिम समाज में एक नियम बना जिसके अनुसार बाह्य आदमी दल का संबंधी बनकर कबीले में घुल-मिल सकता था। इस

नियम को कुलीनता का नियम कहते थे। यह वही नियम था कि यदि पीढ़ियों की निश्चित संख्या तक कोई बाह्य समाज से सटा हुआ रहे अथवा उस वर्ग में विवाह कर ले तो वह उनका संबंधी हो सकता है। श्री सीभोम ने वेल्स की ग्राम पद्धति में एक वर्ग के बाह्य वर्ग का सदस्य बन जाने के जो नियम थे, उन्हें इस प्रकार दिया है:–

(1) दक्षिण वेल्स की अनुश्रुति के अनुसार सिमरू (वेल्स) में रहना गैर लोगों को अन्ततः सिमरू बना देती है। लेकिन तभी जब वह कम से कम 9 पीढ़ियां रहे।

(2) साइमरे के अनुसार पीढ़ी दर पीढ़ी अंतर विवाह होते रहने से चौथी पीढ़ी में किसी अन्य का वंशज सिमरू हो जाता है। दूसरे शब्दों में मूल रूप से किसी पराए का प्रपौत्र जिसका रक्त 8 हिस्सों में कम से कम सात हिस्से सिमरू हो चुका है, कबीले के आदमियों के अधिकारों का अधिकारी हो जाता है।

क्या ऐसा भारत में नहीं होना चाहिए था? यह हो सकता था। वास्तव में इसे होना चाहिए था, क्योंकि आयरलैंड और वेल्स के समान एक नियम भारत में भी था। मनु ने इसका उल्लेख भी किया है। दसवें अध्याय के 64 से 67 तक के श्लोकों में मनु का कथन है कि यदि एक शूद्र सात पीढ़ियों तक ब्राह्मण जाति में विवाह करे तो वह ब्राह्मण बन सकता है। चातुर्वर्ण्य का सामान्य नियम था कि एक शूद्र कभी ब्राह्मण नहीं बन सकता। शूद्र पैदा होता था और शूद्र ही मर जाता था। वह कभी ब्राह्मण नहीं बन सकता था। लेकिन यह प्राचीन विधान इतना कठोर था कि मनु को इसे शूद्रों पर लागू करना पड़ा। यह स्पष्ट है कि यदि यह भारत में जारी रहता तो भारत छितरा समुदाय गांव की बस्तियों में घुल जाता और उसकी पृथक बस्तियां न रहतीं।

ऐसा क्यों नहीं हुआ? इसका उत्तर यही है कि छुआछूत के विचार से पलड़ा भारी हो गया और इससे संबंधी तथा असंबंधी कबीलों और बाहरी होने के भेद अर्थात् छूत और अछूत के भेद को एक-दूसरे रूप में सनातन बना दिया। यह नई चीज आ गई जिसने आयरलैंड और वेल्स का सा ताल-मेल भारत में नहीं होने दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि आज हर गांव में एक पृथक बस्ती होना भारतीय गांव का एक आवश्यक अंग हो गया है।

भाग तीन

छुआछूत की उत्पत्ति के पुराने सिद्धांत

अध्याय 7. छुआछूत की उत्पत्ति का आधार–नस्ल का अंतर
अध्याय 8. छुआछूत की व्यवसाय-जन्य उत्पत्ति

अध्याय 7

छुआछूत की उत्पत्ति का आधार-नस्ल का अंतर

छुआछूत का स्रोत क्या है। जैसे पहले कहा गया है कि इस विषय में अभी विचार ही नहीं किया गया है। समाज शास्त्र के किसी भी अध्ययनकर्ता का ध्यान अभी तक इस ओर आकर्षित नहीं हुआ है। समाज शास्त्रियों के अलावा जिन लेखकों ने भारत और उसके लोगों के बारे में लिखा है उन्होंने कमोबेश निंदा के साथ अस्पृश्यता के वर्णन से ही संतोष कर लिया है। जहां तक मैंने देखा है, मुझे केवल एक ऐसा लेखक मिला है जिसने छुआछूत की उत्पत्ति की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। यह लेखक श्री स्टैनले राइस हैं। श्री राइस[1] का मत है–

इस बात की बहुत अधिक संभावना है कि अछूत पराजितों के वंशज हैं। ज्यों-ज्यों जाति पेशे के साथ जुड़ती गई वैसे ही वे लोग ढोल बजाने वाले डोम और चमड़े का काम करने वाले चमार या खेत मजदूर आदि जातियों में गिने जाने लगे। आरंभिक समय में वे दास बनाकर इन्हीं जातियों में शामिल कर दिए गए थे। ये आर्यों द्वारा विजित प्रजातियां नहीं थीं। पैरियान यहां के मूल निवासी थे, जिन्हें द्रविड़ों ने जीता था और क्योंकि वे भिन्न नस्ल के थे इसलिए उनको समान जातीय देवकुल में सम्मिलित नहीं किया गया। ऐसा होने से विवाह संबंध अनिवार्य होता और तब खुला मेलजोल होने से नस्ल दोगली और पतित हो जाती। लेकिन यह निषेध पक्का नहीं हो सकता था। हर चीज के अपवाद होते ही हैं। चार हजार वर्षों में समय-समय पर एक नस्ल का दूसरी नस्ल से अनिवार्य रक्त संबंध हुआ, उसने आदि-वासियों और प्राचीन द्रविड़ों के भेद को मिटा दिया होगा। ये लोग हिंदू धर्म में इस प्रकार का निचला स्थान देकर शामिल कर लिए गए हैं। ये उसी वातावरण में इतने समय से रह रहे हैं। साथ ही हिंदू धर्म अत्यंत सहनशील और कठोर धर्म है। यह किसी अन्य धर्मावलंबी को हिंदू नहीं बनाता। जिस प्रकार कोई मुसलमान बन सकता है, उसी प्रकार वह हिंदू नहीं बन सकता। जो धर्म के अंग रहते हैं, उन पर अत्यंत कड़े निषेध लागू होते हैं। लेकिन

---

[1] हिंदू कस्टम एण्ड दियर ओरिजिन, पृ. 113-115 (इटेलिक्स वाले वाक्यांश)

यह उन आदिम निवासियों का स्वागत करने के लिए सदा तैयार रहा है, जो इनका विधान मानने के लिए तैयार हुए चाहे उन्हें एक बहुत ही निम्न स्थान दिया गया हो, दूर-दूर रखा गया हो और मंदिरों के द्वार उनके लिए बंद रखे गए हों। इसलिए ऐसा लगेगा कि नृवंश शास्त्र के तर्क निर्णायक नहीं माने जा सकते, जबकि हम इन बातों पर विचार करते हैं जिनका उनके मूल प्रजातीय स्वभाव पर प्रभाव पड़ा होगा और जिन्होंने उनके दृष्टिकोण को बदल दिया होगा। इस प्रकार द्रविड़ों ने पैरियान लोगों के साथ वही व्यवहार किया जो आर्यों ने पराजितों के साथ किया। समझा जाता है उन्होंने उन्हें दास का दर्जा दिया और उन्हें वे काम सौंपे जिनका स्वयं करना वे हेय समझते थे। केवल विवाह ही एक विचारणीय बात नहीं पैरियन लोगों पर लगे प्रतिबंधों का कारण एक बड़ी हद तक निषेध के छद्‌म गुण भी हैं। किसी ऐसे आदमी को कुल देव की समानता या अपने कुल देवों में शामिल करना सामाजिक मर्यादा के ही विरुद्ध नहीं, इससे उस परिवार पर उसके अपने देवता विशेष का भी कोप हो सकता है और यदि कहीं इसे मंदिर की पवित्र सीमाओं के भीतर देवता की पूजा करने दिया गया, तब तो शायद प्रलय ही हो जाए। हां यद्यपि वे पूजा में भाग नहीं ले सकते किंतु वे ऐसे तुच्छ काम कर सकते हैं जिनसे पवित्र स्थानों के अपवित्र होने की आशंका न हो। ईसाई धर्म की भाषा में कहा जाए तो कहना होगा कि यद्यपि एक पैरिया वेदी पर नहीं चढ़ सकता था, पूजा नहीं कर सकता था तो भी वह एक शर्त पर गिरजों की घंटी बजा सकता था। वह अपने आपको प्रार्थना सभा में शामिल नहीं समझ सकता था, वह यथार्थ में सभा के बाहर था। इस अवस्था में वह संस्कार से अपवित्र था। उसका यह धब्बा न पानी से धुल सकता था, न किसी प्रायश्चित से ही जो निषेधों के कारण उस पर लगा हुआ था। उसका स्पर्श करना और उसे दूर-दूर रखने के अतिरिक्त उससे किसी प्रकार का संबंध रखना, मानो एक प्रकार से उड़कर छूत लग जाना है। आप उससे अपना खेत जुतवा सकते हैं, क्योंकि उसमें आज्ञा देने के अतिरिक्त आपको उससे कोई सरोकार नहीं रखना पड़ता। उसके सिर पर अपवित्रता का ठप्पा लगा है और यह वैसा ही उसके साथ पैदा हुआ है, जैसे उसकी नाड़ियों का रक्त। इस प्रकार भारतीय समाज ने उसे अपवित्र और पतित तो माना ही था। वह उन पेशों के कारण जो उसके लिए नियत हैं और भी अधिक पतित तथा घिनौना हो गया।

श्री राइस के इस मत के वास्तव में दो भाग हैं। उनके मत के अनुसार अस्पृश्यता दो बातों से उत्पन्न हुई है– नस्ल और पेशा। यह स्पष्ट ही है कि इन दोनों बातों पर पृथक-पृथक विचार करना होगा। इस अध्याय में हम नस्ल के अंतर को छुआछूत की उत्पत्ति का कारण होने के संबंध में विचार करेंगे।

श्री राइस के नस्ल के सिद्धांत में दो पहलू हैं:–

(1) अछूत अनार्य हैं, अद्रविड़ हैं, मूल वासी हैं, और

(2) वे द्रविड़ों द्वारा पराजित हुए और अधीन बनाए गए।

इस मत पर विचार करते समय भारत पर विदेशी आक्रमणकारियों के आक्रमण, उनकी विजय और उससे उत्पन्न सामाजिक और सांस्कृतिक संस्थाएं, इन सभी पहलुओं पर भी विचार करना होगा। श्री राइस के मतानुसार भारत पर दो आक्रमण हुए हैं। पहला आक्रमण द्रविड़ों का है। उन्होंने अद्रविड़ मूल निवासियों पर विजय की जो वर्तमान अछूतों के पूर्वज थे और उन्हें अछूत बनाया। दूसरा आक्रमण भारत पर आर्यों का आक्रमण है। आर्यों ने द्रविड़ों को जीता। वह यह नहीं बताते कि विजयी आर्यों ने विजित द्रविड़ों के साथ कैसा व्यवहार किया। यदि उन्हें उत्तर देने के लिए मजबूर किया जाए, तो शायद वे कहें कि आर्यों ने उन्हें शूद्र बना दिया। यह तो एक बनी बनाई शृंखला हाथ लग गई। द्रविड़ों ने आक्रमण किया और मूलवासियों को अछूत बनाया यह कथा इतनी अधिक अपरिपक्व है कि इससे शूद्रों और अछूतों की उत्पत्ति के संबंध में उलझे अनगिनत प्रश्न उलझे ही रह जाते हैं, उनका और समाधान नहीं हो सकता।

प्राचीन इतिहास के विद्यार्थी जब अतीत की मीमांसा करते हैं तो उन्हें चार नाम प्रायः मिलते हैं, आर्य, द्रविड़, दास और नाग। इन नामों का क्या अर्थ है? इस प्रश्न पर कभी विचार नहीं किया गया। क्या ये आर्य, द्रविड़, दास और नाग चार विभिन्न प्रजातियों के चार नाम हैं अथवा एक ही प्रजाति के भिन्न-भिन्न नाम हैं। सामान्य मान्यता है कि ये चार भिन्न नस्लें हैं। यह एक ऐसी मान्यता है जो श्री राइस के मत का आधार है। यह मत हिंदू समाज की रचना, विशेष रूप से इसकी वर्ण व्यवस्था की व्याख्या करने का प्रयत्न है। इस प्रकार के मत को स्वीकार करने से पहले आधार की परीक्षा कर लेनी होगी।

हम आर्यों से प्रारंभ करेंगे। यह निर्विवाद है कि वे एक ही जाति के लोग नहीं थे। वे दो हिस्सों[1] में विभक्त थे, यह निर्विवाद है। यह भी निर्विवाद है कि दोनों की संस्कृतियां भिन्न थीं। दोनों में से एक को हम ऋग्वेदीय आर्य कह सकते हैं, और दूसरे को अथर्ववेदी आर्य। इनके बीच की सांस्कृतिक खाई पूरी-पूरी प्रतीत होती है। ऋग्वेदी आर्य यज्ञों में विश्वास करते थे, अथर्ववेदी आर्य जादू टोनों में। उनकी पुराण कथाएं भिन्न-भिन्न थीं। ऋग्वेदी आर्य प्रलय और मनु से सृष्टि की उत्पत्ति में विश्वास करते थे। अथर्ववेदी आर्य "पतन" में विश्वास नहीं करते थे। वे मानते थे कि उनकी नस्ल ब्रह्मा या प्रजापति से उत्पन्न हुई। उनके साहित्यिक विकास के भी भिन्न-भिन्न रास्ते थे। ऋग्वेदी आर्यों ने ब्राह्मण सूत्र तथा आरण्यकों की रचना की। अथर्ववेदियों ने उपनिषदों की रचना की। यह वैचारिक संघर्ष इतना बड़ा था कि ऋग्वेदी आर्यों ने

---

1. इस विषय के गहन अध्ययन के लिए मेरी पुस्तक "हू वर द शूद्राज" का अवलोकन करें।

चिरकाल तक अथर्ववेद को पवित्र वाङ्‌मय नहीं माना और न ही उपनिषदों को। जब उन्होंने उपनिषदों को स्वीकार भी किया तो उसे वेदान्त कहा। आजकल वेदांत शब्द का अर्थ वेद का सार लिया जाने लगा है। किंतु इसका प्राचीन अर्थ रहा है वेद के अंत में वेद की सीमा के बाहर वेद के सदृश पवित्र नहीं। वे इसके अध्ययन को प्रतिकूल अध्ययन मानते थे। हम नहीं जानते कि आर्यों के ये विभाग दो भिन्न-भिन्न नस्लें थीं या नहीं। हम यह भी नहीं जानते हैं कि क्या आर्य किसी प्रजाति या नस्ल का ही नाम रहा हो, इसलिए इतिहासकार जो यह मानकर चले हैं कि आर्य एक भिन्न प्रजाति थे, यह उनकी गलती है।

इससे भी बड़ी गलती दासों को नागों से पृथक करना है। दास और नाग एक ही हैं। दास, नागों का केवल दूसरा नाम मात्र है। यह समझना कठिन नहीं है कि वैदिक वाङ्‌मय में नागों का ही नाम दास क्यों पड़ा। दास भारतीय ईरानी शब्द दाहक का संस्कृत तत्सम रूप है। नागों के राजा का नाम दाहक था इसलिए आर्यों ने नागों के राजा के नाम पर सभी नागों को सामान्य रूप से दास कहना आरम्भ किया[1]।

नाग कौन थे? निस्संदेह वे अनार्य थे। वैदिक वाङ्‌मय को ध्यान से देखने से[2] उसमें एक विसंगति और द्वैत की भावना दो तरह की संस्कृतियों और विचारधाराओं के बीच उहापोह की भावना साफ तौर पर दिखाई देती है। ऋग्वेद में हमारा परिचय आर्य देवता इन्द्र के शत्रु अहि वृत्र (सांप देवता) से होता है। पीछे चलकर यह सांप देवता नाग नाम से प्रसिद्ध हुआ, किंतु आरंभिक वैदिक वाङ्‌मय में नाग और नाम दृष्टिगोचर नहीं होता और जब यह शतपथ ब्राह्मण (11-2,7,12) में प्रथम बार आता है, तो यह स्पष्ट नहीं होता कि नाग का मतलब एक बड़ा सांप है या बड़ा हाथी। लेकिन इससे अहिवृत्र का स्वरूप नहीं छिपता क्योकि ऋग्वेद में उसका स्वरूप सदैव पानी में अथवा उसके चारों ओर छिपे तथा आकाश और पृथ्वी के जल पर समान रूप से अधिकार किए हुए सांप का है।

अहिवृत्र संबंधी वेद मंत्रों से यह भी स्पष्ट है कि आर्य उसकी पूजा नहीं करते थे। वे उसे आसुरी प्रकृति का एक शक्तिशाली देवता मानते थे, जिसे परास्त करना ही इष्ट था।

ऋग्वेद में नागों का नाम आने से यह स्पष्ट है कि नाग एक बहुत ही प्राचीन पुरुष थे। यह भी स्मरणीय है कि नाग न तो आदिवासी ही थे और न असभ्य ही।

---

1. इस विषय पर मेरी रचना 'शूद्र कौन थे' पढ़ें।
2. अगले पृष्ठों में यह स्पष्ट है कि "नाग और नाग्स कल्ट इन एंसीएंट इंडियन हिस्ट्री" के लेखक कु. करुणाकरण गुप्त देखें उनका प्रबंध भारतीय इतिहास कांग्रेस के तीसरे अधिवेशन में पढ़ा गया पृष्ठ 214 से आगे, 1939

इतिहास नागों और राजकीय परिवारों के बीच निकट वैवाहिक संबंधों का भी साक्षी है। कदम्ब–नरेश कृष्णवर्मा[1] के देवगिरि शिला–लेख के अनुसार कदम्बकुल का नागों से संबंध था। नवीं शताब्दी के राजकोट[2] के दान पत्र में अश्वत्थामा–एक के नाग कन्या के साथ विवाह का उल्लेख है। उन्हीं की संतान स्कंद शिष्य ने पल्लव वंश की स्थापना की। नवीं शताब्दी के ही एक दूसरे पल्लव शिला–लेख के अनुसार वीर–कुर्च पल्लव वंश का राजा था। इसी शिला–लेख में उल्लेख है कि उसने एक नाग कन्या से विवाह किया था और उससे उसे राज्य चिन्ह[3] मिला था। वाकाटक नरेश प्रवरसेन के पुत्र गौतमी–पुत्र का भारवि नरेश भवनाग की पुत्री के साथ विवाह करना एक ऐतिहासिक घटना है। इसी प्रकार चन्द्रगुप्त द्वितीय का नाग–कुल[4] की कुबेर नाग नामक कन्या से विवाह हुआ। एक तमिल कवि का कहना है कि कोक्किल्ली नाम के एक प्राचीन चोल नरेश ने एक नाग कन्या[5] से विवाह किया। राजेन्द्र चोल को भी अपनी तेजस्विता के कारण नाग कन्या[6] का पाणिग्रहण करने का श्रेय दिया जाता है। नावसाहशांक चरित में परमेश्वर नरेश सिंधुराज (जिसने दसवीं शताब्दी के प्रथम भाग में राज्य किया होगा), और शशिप्रभा नामक नाग[7] कन्या के विवाह का इतने विस्तार और ऐसी यथार्थता से वर्णन है कि हमें लगभग यह विश्वास हो जाता है कि इस कथन में कुछ ऐतिहासिकता अवश्य होगी। 973–1830 वि.स. के हर्ष के शिलालेख में हमें आभास मिलता है–गुवाक प्रथम नागों और कुमारों[8] की सभाओं में वीर रूप में प्रसिद्ध था। यह नरेश विग्रहराज चाहमान से ऊपर की पीढ़ी में छठा था। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वह नवीं शताब्दी के मध्य में राज्य करता रहा होगा। उड़ीसा के भौमन वंश के शान्तिकार के पुत्र के एक शिलालेख से पता चलता है कि उसने नाग परिवार की त्रिभुवन महादेवी[9] से विवाह किया था। शान्तिकार का समय 921 ई. के आस–पास समझना चाहिए।

नाग सांस्कृतिक विकास की ऊंची अवस्था को तो प्राप्त थे ही इतिहास से यह भी प्रकट होता है कि वह देश के एक बड़े भू–भाग पर राज्य भी करते थे। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि महाराष्ट्र नागों का क्षेत्र है। यहां के लोग और यहां के राजा नाग थे[10]।

---

[1] आई. ए. 7, पृष्ठ 34
[2] ई. आई. 15, पृष्ठ 246
[3] एस. आई. 1–2, पृष्ठ 508
[4] ई. आई. 15, पृष्ठ 41
[5] ई. आई. 15, पृष्ठ 249
[6] आई. ए. 22, पृष्ठ 144–149
[7] ई. आई. 1, पृष्ठ 229
[8] जे. बी. ओ. आर. एस. 16, पृष्ठ 771
[9] ई. आई. 2, पृष्ठ 117
[10] रजवाडे

एक से अधिक प्रमाणों से यह पता चलता है, ईसा की आरंभिक शताब्दियों में आंध्र देश और उसका पड़ोस नागों के अधीन था। सातवाहन और उनके छुतुकुल शातकर्मी उत्तराधिकारियों का रक्त नाग रक्त ही था। जैसा. डॉ. एच. सी. रायचौधरी ने निर्देश किया है सातवाहन वंश के पौराणिक प्रतिनिधि सालीहरण को पूनिया शतूपुकलिला ने ब्राह्मण और[1] नाग के मेल से उत्पन्न स्वीकार किया है। उनकी वंशावलियों में जो नमूने के नाग नाम मिलते हैं उनसे यह बात अच्छी तरह सिद्ध हो जाती है। अनेक घटनाओं से यह भी सिद्ध होता है कि सातवाहन राज्य के अंतिम दिनों में नाग बहुत शक्तिशाली हो गये थे। सातवाहन वंश की मुख्य शाखा के अंतिम नरेश पुलुमवी के शासन काल में स्कन्दनाग नामक राजा राज्य करता था। दूसरे एक छुतु नरेश की कन्या नाग मुलनिका के बारे में उल्लेख है कि उसने शिकन्द नाग श्रीनाम के अपने पुत्र के साथ एक नाग की भेंट दी। इस वंश के सभी ज्ञात नरेशों के नाम यहीं हैं। इससे नागों से निकट संबंध सिद्ध होता है। तीसरे, सोरिनगोई की राजधानी उरगपुर के नाम से यह बात झलकती है कि यहां किसी नाग-राजा का अलग से राज्य नहीं था, किंतु उस चिरकाल स्थित प्रदेश में वह नागों का एक उपनिवेश था।

सिंहल और स्याम की बौद्ध अनुश्रुति से भी हमें यह ज्ञात होता है कि करांची[2] के पास मजेरिक नाम का एक नाग प्रदेश था।

तीसरी और चौथी शताब्दी के प्रारंभ में उत्तरी भारत में भी अनेक नाग नरेशों का शासन रहा है। यह बात पुराणों, प्राचीन सिक्कों तथा लेखों से सिद्ध होती है। विदिशा, चम्पावती, पदमावती और मथुरा का विशेष उल्लेख मिलता है कि उनकी असंदिग्ध है। यहां यह संभव नहीं है कि हम द्वितीय समूह के सिक्कों के विवाद में पड़ें अथवा इन पौराणिक राजाओं के साथ अच्सुत गणपति नाग से इलाहाबाद स्तम्भ के नागसेना को मिला[3] सकें। प्राचीन, भारतीय इतिहास में, जितने नागों का उल्लेख है, उनमें से चौथी शताब्दी के नाग परिवार[4] सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और ऐतिहासिक दृष्टि से युक्तियुक्त प्रतीत होते हैं। हमें पता नहीं कि लाहौर की ताम्र मुद्रा[5] के नागभट्ट और उनके पुत्र महाराज महेश्वर नाग उक्त तीन परिवारों में से किसी एक के थे, या स्वयं एक पृथक नाग परिवार था। लेकिन इन सबसे डॉक्टर सी.सी. रायचौधरी के निष्कर्ष का समर्थन होता है कि उत्तर भारत में चतुर्थ शताब्दी के कुषाण राज्यों को नागों ने जीत लिया तो वे लुप्त हो गए।

ये नाग उत्तरायण के विभिन्न प्रदेशों में शासन करते रहे होंगे। कालांतर में उन्हें

---

1. आई. पी. एच.. ए. आई., पृष्ठ 280
2. जी. आई., पृष्ठ 68
3. वही, पृष्ठ 59
4. आई. ए. 8, पृष्ठ 82
5. बी. गंज. 11, पृष्ठ 115

समुद्रगुप्त की सेनाओं ने परास्त कर दिया था, जो कि स्कन्दगुप्त के समय तक हमें एक सर्वनाग अंतर्वेदों[1] का क्षात्रप ज्ञात होता है। आस–पास विशेष रूप से भरूकच्छ में छठी शताब्दी तक नागों का महत्त्वपूर्ण स्थान था। जूनागढ़ शिलालेख से यह पता लगता है कि स्कन्दगुप्त ने नागों के एक विद्रोह[2] को बुरी तरह दबाया था। 570 ई. में दट्टाप्रथम गुर्जन ने नागों[3] को उखाड़ फेंका। उन्हें त्रिहुल्लक या भरूच[4] के द्वारा शासित बनवास माना गया है। ध्रुवसेन द्वितीय के 645 ई. के दानपत्र में प्रभात श्री नाग[5] का दत्तक के नाम से उल्लेख है।

नवीं शताब्दी में नागों ने विशेष रूप से मध्यभारत में दूसरी बार फिर अपना प्रभुत्व जमाया। 800 ई. में कोशल स्थित श्रीपुर को महाराजा तीव्रदेव ने नाग के कबीले[6] को हराया। इसके कुछ समय बाद बंगाल के शिलालेखों में भी नागों के दो उल्लेख मिलते हैं। महामांडलिक ईश्वर घोष के राजगंज के एक लेख से एक घोष नाग परिवार से हमारा परिचय होता है इसे ग्यारहवीं शताब्दी[7] में माना गया है। बारहवीं शताब्दी[8] के हरिवर्मादेव के मंत्री भट्ट भवदेव की भुवनेश्वर प्रशस्ति में भी उनके द्वारा नाग राजाओं के विनाश का उल्लेख है। रामचरित मानस में भी रामपाल द्वारा भाव भूषण सन्तति में उत्कल राज्य की विजय का उल्लेख किया गया है। लेकिन यहां यह स्पष्ट नहीं है कि वे नाग थे या चंद्र थे। अधिक संभावना यही है कि वे नाग ही थे, क्योंकि वे ही अधिक प्रसिद्ध थे।

दसवीं से बारहवीं शताब्दी में एक सैन्द्रक सिंद अथवा छिन्दक परिवार की अलग–अलग शाखाएं शनैः–शनैः मध्य भारत विशेष रूप से बस्तर के विभिन्न प्रदेशों में फैल गईं। ये अपने को भोगवती और नागवंशी कहते थे। दसवीं शताब्दी के शिलालेख में बेगुर के नागोत्तरों का वर्णन है। वे पश्चिम गंग के राजा एरियप्प की ओर से वीर महेन्द्र के विरुद्ध लड़े और युद्ध में यश प्राप्त किया। यदि "भवसाहसांक–चरित" को प्रमाण माना जाए तो सिंधुराज परमार की रानी का पिता नाग नरेश इसी समय के आस–पास नर्मदा के तट पर रत्नावती में राज्य करता रहा होगा।

द्रविड़ कौन हैं? क्या वे लोगों से भिन्न हैं अथवा क्या एक ही नस्ल के लोगों के

---

1. जी. आई., पृष्ठ 68
2. वही, पृष्ठ 59
3. आई. ए. 8, पृष्ठ 82
4. बी. गंज 11, 115
5. ई 11, पृष्ठ 92
6. जी. आई., पृष्ठ 298
7. भण्डारकर, सूची सं. 2100
8. इंस्क्रिप्शन ऑफ बंगाल, पृष्ठ 30

दो भिन्न नाम हैं? प्रचलित धारणा या मत तो यह है कि साधारणतः दो भिन्न नस्लों के नाम हैं। इससे लोगों को आश्चर्य होगा लेकिन इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि द्रविड़ और नाग एक ही नस्ल की दो भिन्न शाखाएं हैं और उससे भी कम लोग यह स्वीकार करेंगे कि "नागों" के रूप में द्रविड़ों ने न केवल दक्षिण भारत पर बल्कि उत्तर और दक्षिण सारे भारत पर आधिपत्य बनाए रखा है, किंतु यह ऐतिहासिक सत्य है। हम देखें कि इस विषय में विद्वानों का क्या मत है। श्री दीक्षितयूयर–एक प्रसिद्ध दक्षिणात्य विद्वान ने अपनी रामायण में "दक्षिण भारत" शीर्ष लेख में लिखा है:–

"एक अन्य आदिवासी नाग जो देवतुल्य है जिसका देवी चिन्ह सर्प है।"

सातवें अखिल भारतीय प्रास्थ विद्या सम्मेलन का कार्यवृत्त पृ. 248–49 पश्चिम–उत्तर में तक्षशिला से लेकर उत्तर पूर्व में असम तक और सिंहल तथा दक्षिण भारत में भी, इस प्रकार सारे भारत में फैले थे। एक समय वे शक्तिशाली रहे होंगे। या तो यक्षों (यकवों) के समकालीन या राजनीतिक सत्ता के तौर पर उसके पतन के बाद दक्षिण भारत में नागों की प्रधानता हुई। न केवल सिंहल वरन् प्राचीन मालाबार के प्रदेशों पर भी प्राचीन नागों का अधिकार था। ईसा के बाद की आरम्भिक शताब्दियों के तमिल ग्रंथों में प्रायः नागनद का उल्लेख आता है। अभी तक मालाबार में नाग पूजा के अवशेष यथावत चले आ रहे हैं। दक्षिण त्रावणकोर का नागरकोयल मंदिर आज भी नागपूजा को समर्पित है। उनके बारे में इतना ही कहा जा सकता है कि नाग लोग समुद्री लोग (मछुआरे) थे। उनकी स्त्रियां बहुत सुंदर होती थीं। उनकी सुंदरता बहुत प्रसिद्ध थी। ऐसा लगता है कि नाग चेरों में घुल मिल गए थे जो ईसा की प्रथम शताब्दी के आस–पास शक्तिसम्पन्न हुए।

श्री ओल्डहम ने इस विषय पर गहन अध्ययन किया है। उनके मतानुसार[2]:–

"प्राचीन काल से द्रविड़ लोग तीन भागों में बंटे रहे हैं – चेर, चोल, तथा पाण्ड्य। चेर अथवा सेर (प्राचीन तमिल में सरे) नाग का पर्यायवाची है। चेरमण्डेल, नागद्वीप या नागप्रदेश से स्पष्ट तौर पर यह झलकता है कि दक्षिण के द्रविड़ों की उत्पत्ति असुरों से हुई। इसके अतिरिक्त अभी गंगा घाटी में कुछ ऐसे लोग चारों ओर फैले हुए हैं, जो अपने आपको चेरू या सिओरी कहते हैं और जिनका कहना है कि वह नाग देवता के वंशज[3] हैं। चेरू बहुत प्राचीन प्रजाति है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि "गंगा घाटी" के एक बड़े हिस्से पर उनका आधिपत्य रहा है, जिस पर जैसा कि

---

1. ई. आई. 6, पृष्ठ 45
2. द सन एण्ड सर्वेन्ट, पृ. 157–61
3. एलिस्ट सव ग्लोसरी NWF, 135–136

हम देख चुके हैं, अत्यंत प्राचीन काल में नागों का अधिकार था। मुस्लिम–आक्रमण की उथल–पुथल से चेरू अपनी भूमि से अधिकार च्युत हो गये प्रतीत होते हैं। अब ये एकदम निर्धन हैं और प्रायः उनके पास भूमि सम्पत्ति नहीं हैं। इसमें तनिक भी संदेह नहीं हो सकता कि ये लोग अपने द्रविड़ बंधु चेरों के संबंधी हैं।

चेरुओं में कई विशिष्ट रीतियां हैं। उनमें एक ऐसी है जिससे लिच्छवियों और नेपाल के नेवारों से उनका संबंध जुड़ता लगता है। यह है प्रत्येक पांच या छह घरों पर "राजा" का चुना जाना, और "तिलकों[1]" आदि से उनका राज्याभिषेक करना। लिच्छवियों तथा नेवारियों–दोनों में ही बहुत सी ऐसी परम्पराएं हैं जिनका दक्षिण के द्रविड़ों से साम्य है। सभी सूर्य की पूजा करते हैं। नेपाल में करकार्टक नाग का वही स्थान है जो नील नाग का कश्मीर में। लिच्छवियों की राजधानी वैशाली का रक्षक देवता नाग था। लिच्छवियों और नेवारों के विवाह संबंध तमिल लोगों के अत्यधिक सदृश हैं, और उनके समान उत्पत्ति की बात पर बहुत प्रकाश पड़ता है।

"नेवारों में जायदाद पर मातृ सत्तात्मक व्यवस्था के अनुसार अधिकार होता रहा है। जैसा कि कभी पंजाब के अरट्ट, बाहिक और तखास लोगों में था। उनमें उनका अपना पुत्र उत्तराधिकारी[2] न होकर उनका भांजा उत्तराधिकारी होता था। अभी तक यह एक द्रविड़ रिवाज है। थोड़े में कहना हो तो इसी युग के एक द्रविड़ लेखक श्री बालकृष्ण नैय्यर का कहना है कि उन्हें ''उनके आदमी लगभग हर खास बात में नेवारियों[3] के सगे संबंधी लगते हैं।"

इनके अतिरिक्त दूसरी कड़ियां भी हैं जो दक्षिण के नागों को उत्तर भारत के लोगों के साथ मिलाती हैं। चम्बल नदी के समीप कंसवाह में कर्नल टाड को मिले एक शिलालेख के अनुसार शैलेन्द्र नाम का एक राजा तक्ष[4] राज्य करता था, जो 'सरय' जनजाति का था। यह जनजाति वीरों के रूप में प्रसिद्ध थी। यह स्पष्ट ही है कि वह तक्ष या तखा पंजाब का वही राज्य था, जहां ह्वेनसांग[5] आया था और जिसका पहले उल्लेख हो चुका है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि तखा के "नाग" लोग "सरय" भी कहलाते थे।

फिर शिवालिक में, सतलज और ब्यास घाटी के बीच सर या स्योरज नाम का एक प्रदेश है। इसमें नाग देवताओं की ही विशेष पूजा होती है।

---

1. शेरिंग रेसेल NW, पृ. 376–77
2. महाभारत का मा, पृ. XIIX
3. कलकत्ता रिव्यू, 1896
4. एनल्स ऑफ राजस्थान
5. ह्वेनसांग वील I, 165

ऊपरी चिनाब घाटी में एक दूसरा "स्योरज" है। वहां भी नाग पूजक लोग ही रहते हैं।

"सरज" अथवा "स्योरज" कर्नल टाड के शिलालेख का "सरय" ही प्रतीत होता है। गंगा घाटी के चेरू लोगों का दूसरा नाम "श्योरि" भी यही है। चेर अथवा नाग लोगों का पुराना तमिल नाम "सरे" भी यही लगता है। इसलिए यह स्पष्ट सा ही है कि "सरय" या तख्य सतलुज घाटी के "सरज" गंगा के स्योरि अथवा चेरू और दक्षिण के चेर, सेर या केरल सभी नागपूजकों की ही भिन्न-भिन्न शाखाएं हैं।

इस बात की ओर भी ध्यान दिया जा सकता है कि हिमालय की कुछ बोलियों में "कीरा" या "कीरी" का अर्थ सांप है। कदाचित इसी शब्द से "किरात" शब्द बना हो। 'राजतरंगिणी' में हिमालय के लोगों के लिए आया है। बाराहमिहिर ने भी "किरो" का उल्लेख किया है। प्रो. कीलहार्न* द्वारा प्रकाशित एक ताम्रपत्र में भी इसका उल्लेख है।

कांगड़ा घाटी में बैजनाथ मंदिर है। वहां के एक शिलालेख में उस स्थान** का नाम किरग्राम है। स्थानीय बोली में इसका अर्थ होगा सांपों का गांव। नाग अभी बैजनाथ का और आस-पास के सारे प्रदेश का जनप्रिय देवता है, और इस प्रकार कीरा (क्रीड़ा) शब्द नाग का पर्यायवाची है और इसमें कुछ संदेह नहीं रह जाता कि हिमालय के सर्प पूजक कीरा दक्षिण के द्रविड़ केर, चेर अथवा केरल के संबंधी थे।

नाम की समानता सदैव विश्वसनीय नहीं होती, किंतु यहां हमारे पास कुछ और भी तथ्य हैं। ये लोग जिनके नाम स्पष्टतः एक ही हैं, सभी सूर्यवंशी हैं। ये सभी मनियर-नाग को मानते हैं और सभी नाग देवताओं को अपने पूर्वज मानकर पूजा करते हैं।

उपर्युक्त कथन से यह लगभग निश्चित है कि दक्षिण के द्रविड़ उसी परम्परा के हैं, जिस परंपरा के उत्तर के नाग और असुर।

इससे यह स्पष्ट है कि नाग और द्रविड़ एक ही जाति हैं। इतने प्रमाण होने पर भी संभव है लोग इस मत को स्वीकार न करें। इस मत को स्वीकार करने में जो सबसे बड़ी कठिनाई है वह दक्षिण के लोगों के द्रविड़ नाम की है। उनके लिए यह पूछना स्वाभाविक होगा कि यदि दक्षिण के लोग नाग ही हैं तो केवल वे ही द्रविड़ क्यों कहलाते हैं। आलोचक अवश्य पूछेंगे। यदि द्रविड़ और नाग एक ही लोग हैं तो दक्षिण के लोगों के लिए भी नाग शब्द का ही प्रयोग क्यों नहीं हुआ। इसमें कोई

---

* राजतरंगिणी स्टीन VIII 27,67 रेपसन SRAS जुलाई 1900, 533

** SRAS जनवरी 1903, पृ. 37

संदेह नहीं कि यह एक उलझन है। किंतु यह कोई ऐसी गुत्थी नहीं है जो सुलझाई न जा सके। यह सुलझ सकती है, बशर्ते कि कुछ बातों को ध्यान में रखा जाए।

पहली बात जो ध्यान देने की है, वह भाषा संबंधी स्थिति है। आज दक्षिण की भाषा उत्तर की भाषा से भिन्न है। क्या वह सदैव से है। इस प्रश्न पर श्री ओल्डहम[1] के विचार ध्यान देने योग्य हैं:

''यह स्पष्ट है कि प्राचीन संस्कृत व्याकरण में द्रविड़ प्रदेशों की भाषा को उत्तर की बोलियों से संबंधित माना जाता था और इसका उन लोगों की भाषा से विशेष संबंध था जो "असुरों" के वंशज प्रतीत होते हैं।'' इस प्रकार सहस्त्रचन्द्रिका में लक्ष्मीधर का कथन है कि पाण्ड्य, केकय, बाहलीक, अहलीक, सह्य और नेपाल पैशाची देशों में पैशाची भाषा बोली जाती है। कुन्तल, सुदेश, भोट, गांधार, हैव और कनोजन ये पैशाची देश हैं। सब बोलियों में पैशाची में संस्कृत का सबसे कम अंश है।

"असुर आरम्भ में आर्यों से भिन्न कोई भाषा बोलते थे, यह स्पष्ट है। प्रो. म्यूर ने ऋग्वेद से बहुत से अनुच्छेद उद्धृत किए हैं जिनमें असुरों की भाषा के लिए "मृद्वाध" शब्द का प्रयोग किया गया है। "मृद्वाध" जिसका मेरा अर्थ "हानि प्राप्त बोली" है, सायण के अनुसार उन लोगों की बोली है, जिसकी जिह्वा नष्ट हो गई है।[2] इसमें संदेह नहीं कि इस शब्द का मूल अर्थ यही रहा है कि असुरों की भाषा आर्यों को कमोबेश समझ में ही नहीं आती हो। ऋग्वेद के एक दूसरे अनुच्छेद से भी यही व्याख्या ठीक उतरती है, जिसमें कहा गया है कि इन्द्र को प्रसन्न कर अपशब्द बोलने वालों पर जीत हो।''[3]

'शतपथ ब्राह्मण' में लिखा है असुरों के वाणी न होने से वे कहीं के नहीं थे। वे "हेलवः हेलवः" चिल्लाते थे। उनकी वाणी ऐसी ही अगम्य थी और जो इस प्रकार बोलता है वह म्लेच्छ है। इसलिए कोई ब्राह्मण बर्बर-भाषा न बोले, क्योंकि यह असुरों[4] की भाषा है।

मनु ने लिखा है ''जो ब्राह्मण के मुंह, बांह और जांघ और पैरों से उत्पन्न वर्णों से बाहर के हैं, चाहे वे म्लेच्छ भाषा बोलें, चाहे आर्य भाषा वे दस्यु हैं।"[5] इससे स्पष्ट है कि मनु के संयम में आर्य भाषा के साथ-साथ म्लेच्छ अथवा असुरों की भाषा भी बोली जाती थी। तो भी 'महाभारत' में जिस समय का उल्लेख किया गया

---

1. सन एण्ड सर्वेंट
2. म्यूर OST 1149
3. ऋग्वेद विल्सन VII, XVIII 13
4. शतपथ ब्राह्मण 2, 1, 23
5. म्योर हगरन X 45

है, आर्य जातियों में असुर भाषा लगभग लुप्त हो गई। विदुर ने जब युधिष्ठिर को संबोधित करके कहा तो म्लेच्छ भाषा का प्रयोग किया जिससे युधिष्ठर[1] के अतिरिक्त कोई समझ न सके।

इसके बाद के समय में राम तर्क बागीश वैयाकरण ने "नाग-भाषाएं[2] बोलने वालों का उल्लेख किया है। इससे अनुमान होता है कि मूल असुरों ने अपने बदल गए भाइयों को बहुत बाद तक अपने धर्म और अपनी परम्परागत रीति-रिवाजों की रक्षा की। इन्हीं मूल जातियों में ही, पैशाची बोलियों का उपयोग होता था और जैसा हम अभी देख चुके हैं, इन्हीं जातियों में द्रविड़ पांड्य[3] थे।"

तमिल और दूसरी सम्बद्ध बोलियों का आधार प्राचीन असुर भाषा ही है। इस मत का समर्थन इस बात से भी होता है कि सिंध की सीमा पर रहने वाली बाहुई नाम की एक जाति की भाषा उनकी भाषा के बहुत समीप प्रमाणित हुई है। वास्तव में डा. काल्डवैल का कहना है– "ब्राहुई (भाषा) के कारण हम द्रविड़ प्रजाति के चिह्नों को सिंधु पार मध्य एशिया के दक्षिण तक खोज सकते हैं।" यह प्रदेश जैसा कि मैं पहले उल्लेख कर चुका हूं, असुरों अथवा नागों का निवास रहा होगा जिनकी नस्ल द्रविड़ राज्यों के संस्थापक से बहुत कुछ मिलती होगी।

जो भी प्रमाण एकत्र किए हैं, उन पर विचार करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि दक्षिण के द्रविड़ और उत्तर के असुर अथवा नाग एक ही परम्परा के लोग हैं।

दूसरी बात जो ध्यान देने की है, वह यह है कि द्रविड़ मौलिक शब्द नहीं है। यह तमिल शब्द का संस्कृत रूप है। मूल शब्द तमिल जब संस्कृत में आया तो वह दमिल्ल[4] हो गया और दमिल्ल ही द्रविड़ बन गया। द्रविड़ की व्युत्पत्ति भाषा के नाम से उसकी नस्ल का बोध नहीं होता।

तीसरी बात जो याद रखने की है कि तमिल या द्रविड़ केवल दक्षिण भारत की भाषा नहीं थी किंतु आर्यों के आगमन के पूर्व समस्त भारत[5] की भाषा थी और कश्मीर के रामेश्वरम् तक बोली जाती थी। इससे अगली बात जो ध्यान देने की है आर्यों और नागों का संबंध और नागों तथा उनकी भाषा पर इसका जो प्रभाव पड़ा, वह है। यह विचित्र बात लगेगी किंतु इस संबंध का उत्तर के नागों पर जो प्रभाव पड़ा वह उस प्रभाव से बिल्कुल भिन्न है जो दक्षिण भारत के नागों पर पड़ा। उत्तर

---

1. महाभारत आदि पर्व जर गृह, पृ. VX/VII
2. म्यूर OST II, 52
3. वही, 49
4. लेखक का व्याख्यान, भारत का प्राचीन इतिहास (1919), पृ. 80
5. वही, पृ. 25-28

के नागों ने अपनी मातृभाषा तमिल को छोड़ दिया और संस्कृत को अपना लिया। दक्षिण के नागों ने अपनी मातृभाषा तमिल बोलते समझते चिपटे रहे और आर्यों की संस्कृत भाषा को नहीं अपनाया। यदि वह भेद ध्यान में रहे तो इससे बात के समझने में सहायता मिलेगी कि द्रविड़ अपनी द्रविड भारत के ही लोगों पर क्यों लागू हुआ। उत्तर–भारत के द्रविड़ नाम केवल दक्षिण भाषा बोलना भूल चुके थे। इसलिए उनको द्रविड़ नाम से पुकारा जाना संभव हो गया। लेकिन जहां तक दक्षिण के नामों की बात है, उन्हें द्रविड़ कहने का औचित्य दो कारणों से बना रहा – एक तो ऐसे लोग रह गए थे जो द्रविड़ भाषाएं बोलते थे। यही वास्तविक कारण है कि दक्षिण के लोग द्रविड़ कहलाते हैं।

दक्षिण के लोगों के लिए द्रविड़ शब्द का विशेष प्रयोग होने से यह नहीं भूलना चाहिए कि नाग और द्रविड़ एक ही हैं, वे एक ही प्रजाति के दो भिन्न नाम हैं। नाग उनका जातिगत संस्कृतिगत नाम है और द्रविड़ भाषागत।

इस प्रकार दास वे ही हैं जो नाग हैं और नाग वे ही हैं जो द्रविड़ हैं। दूसरे शब्दों में हम भारत की नस्लों के संबंध में इतना ही कह सकते हैं कि अधिक से अधिक दो नस्लें ही रही हैं – आर्य और नाग। स्पष्ट है कि श्री राइस का मत निराधार सिद्ध होता है। यह मत भारत की तीन नस्लों को स्वीकार करता है, जबकि वास्तव में वे दो ही हैं।

II

यदि यह मान भी लें कि द्रविड़ के आगमन से पूर्व एक तीसरी आदिवासी जाति भारत में रहती थी तो क्यों यह कहा जाता है तो क्या ये द्रविड़ों से पूर्व के आदिवासी भारत के वर्तमान अछूतों के पूर्वज थे। सत्य बात का पता लगाने के लिए हमारे पास दो कसौटियां हैं - एक मानव शरीर शास्त्र की और दूसरी मानव वंश विज्ञान नस्ल की।

भारतीय लोगों के बारे में मानव शरीर शास्त्र की दृष्टि से विचार करने पर प्रो. धुरे ने अपने “भारत में जाति और नस्ल” नामक ग्रंथ में कुछ ध्यान आकर्षित करने वाली बातें कही हैं, उसी में से एक उद्धरण है -

संयुक्त प्रांतों के ब्राह्मण को प्राचीन आर्यों का एक विशेष प्रतिनिधि मानकर हम उसी से तुलना आरम्भ करते हैं। यदि हम विभिन्न अवयवों की ओर ध्यान दें तो ऐसा मालूम होता है कि संयुक्त प्रांत के क्षत्रिय को छोड़कर यह पंजाब के चूहड़ा[1] और और खत्री की अपेक्षा छोटा पड़ता है। चूहड़े और खत्री के विभेदी अवयवों का भेद संयुक्त प्रांत

---

[1] चूहड़ा पंजाब का अछूत है।

के ब्राह्मण और पंजाब के चूहड़े के बीच अंतर में कुछ ही कम है। इसका अर्थ हुआ कि संयुक्त प्रांत का ब्राह्मण शारीरिक दृष्टि से अपने प्रांत के क्षत्रिय को बहुत ऊंची जाति के अतिरिक्त शेष सभी जातियों की अपेक्षा पंजाब के चूहड़े और खत्री से अधिक समीप है। संयुक्त प्रांत के ब्राह्मणों के इस विभेद पर विचार करें। संयुक्त प्रांत के ब्राह्मण और बिहार के ब्राह्मण का माप आर्य संस्कृति के प्रसार के हिसाब से सोचा जाए तो शायद बहुत समान होना चाहिए। किंतु उसमें इतना ही भेद है जितना संयुक्त प्रांत के ब्राह्मण और पंजाब के चूहड़े में। ऐतिहासिक आधार पर हम समझते हैं कि बिहार को संयुक्त प्रांत के आस-पास होना चाहिए। किंतु तालिका की ओर देखने से पता लगता है कि कुर्मी ब्राह्मण के समीप है, और चमार तथा डोम[1] दूर हैं। लेकिन यहां चमार ब्राह्मण से इतना दूर नहीं है जितना संयुक्त प्रांत का चमार संयुक्त प्रांत के ब्राह्मण से। बंगाल की तालिका देखने से पता लगता है कि सामाजिक सीढ़ी के निचले छठे दर्जे पर जो चाण्डाल[2] है जिसका स्पर्श मात्र अपवित्र करता है। उसमें और ब्राह्मण में बहुत अंतर नहीं है। कायस्थ जो दूसरे दर्जे पर हैं, उससे नाम मात्र का भेद है। बंबई में देशस्थ ब्राह्मण जितना चितपावन ब्राह्मण के समीप है उतना ही सोन कोली एक मछुआ जाति के। मराठा प्रदेश की अछूत जाति महारों का कुनवी नामक किसान जाति के साथ-साथ दूसरा नंबर है। इसके बाद आते हैं शेनवी ब्राह्मण, नागर ब्राह्मण और ऊंची जाति वाले मराठे। यह परिणाम कुछ पुराने हैं। सामान्य तौर पर कहा जाए, तो इसका यही मतलब है कि बंबई में सामाजिक ऊंच-नीच और शारीरिक भेद में किसी प्रकार का तारतम्य नहीं है।

अंत में हम मद्रास को लेते हैं। यहां हमें भिन्न-भिन्न भाषागत प्रदेशों को पृथक-पृथक लेना चाहिए। क्योंकि भिन्न-भिन्न प्रदेशों में सामाजिक ऊंच-नीच का स्तर भिन्न-भिन्न है। श्री रिसले और ई. थर्स्टन ने जातियों के क्रम का जो औसत निकाला है, वह इस प्रकार है–

कापू, सले, माला, गोल्ला, मादिग, फोगत और कोमति। उनके सामाजिक दर्जे के अनुसार उनका क्रम इस प्रकार है-

ब्राह्मण, कोमति, गोल्ला, कापू और अन्य तथा सले, फोगत और अन्य माला, मादिग का दर्जा सबसे नीचा है, क्योंकि वे तेलुगु प्रदेश के पेरिया (अंत्यज) हैं। कन्नड़ प्रदेश में नासिक माप के अनुसार निम्न क्रम हैं –

कर्नाटक, स्मार्त, ब्राह्मण, बन्तु, बिल्लिवा, माण्इम ब्राह्मण, बोककालिंगा, गनिंग, लिंग बनजिंग, पंचाल, कुरहा, होलेय, देशष्ठा, ब्राह्मण, सोरेया और बीदर।

---

[1] डोम बिहार में अछूत हैं।

[2] चाण्डाल बंगाल में अछूत हैं।

सामाजिक अग्रता के हिसाब से जातियों का क्रम इस प्रकार है:–

ब्राह्मण, बंत, बोक्कालिंगा, तोरयू आदि कुरबा और गंनिग, बडगा और कुम्ब और स्लोग, बिल्लिवा, बेद, होलेय।

इस तुलना का महत्व उस समय और भी बढ़ जाता है, जब हम देखते हैं, कि कन्नड़ के अछूत का नासिका माप 75.1 है। जबकि ब्राह्मण का नासिका माप 71.5 है और जंगल के कुम्ब तथा सोलग, जो हिंदू रंग चढ़ने पर जो स्थान उन्हें मिला उस पर स्थित है का नासिका माप 86.1 तथा 85.1 है।

अपनी नासिका माप के हिसाब से तमिल जातियों का क्रम इस प्रकार है:-

तियन 75, नम्बूद्री 75.5, नायर 76.7, चरूमन 77.2। इनकी सामाजिक अग्रता का स्तर इस प्रकार है:-

"नम्बूद्री, नायर, तियन चरूमन। ट्राबननोर जंगली जाति कानिकर का नासिका माप 84.6 है। इस प्रकार चरूमन (एक अछूत) कानिकर की अपेक्षा ब्राह्मण की नस्ल का है।"

उक्त उद्धरण में, जो दूसरी जातियों के बारे में कहा गया है, यदि उसे छोड़ दें और केवल अछूत के बारे में जो कुछ कहा गया है उसी पर विचार करें तो यह स्पष्ट है कि पंजाब के चूहड़े का नासिका माप संयुक्त प्रांत के ब्राह्मण समान ही है। बिहार के चमार का नासिका माप बिहार के ब्राह्मण से बहुत भिन्न नहीं है। कन्नड़ के होलेय (अछूत) का नासिका माप कन्नड़ के ब्राह्मण से कहीं ऊंचा है और चेरूमन (तमिल के पेरियाओं से भी निचले दर्जे को प्राप्त) का नासिका माप उसी नस्ल का है जिस नस्ल का तमिलनाडु के ब्राह्मण का। यदि किसी जाति को नस्ल निश्चित करने के लिए मानव शरीर शास्त्र एक विश्वसनीय विज्ञान है, तो हिंदू समाज पर इस शास्त्र के लागू करने के लिए जो परिणाम हैं, उनसे यह बात निश्चित प्रमाणित होती है कि ब्राह्मण और अछूत एक ही नस्ल के हैं। इससे यही परिणाम निकलता है कि यदि ब्राह्मण आर्य हैं तो अछूत भी आर्य हैं। यदि ब्राह्मण द्रविड़ से हैं तो अछूत भी द्रविड़ ही हैं, यदि ब्राह्मण नाग हैं तो अछूत भी नाग हैं। इस स्थिति में राइस का सिद्धांत निराधार सिद्ध होता है।

नस्ल की अस्पृश्यता का आधार होने का सिद्धांत मानव और शरीर शास्त्र के विरुद्ध तो पड़ता ही है, उसे हमारी उस जानकारी से भी किसी तरह का संबल नहीं मिलता जो हमें भारत की नस्लों के बारे में प्राप्त है। यह बात भली-भांति ज्ञात है कि भारत के लोग किसी समय आदिवासियों के आधार पर संगठित थे और यद्यपि अब कबीलों ने जातियों का रूप ले लिया है तो भी कबीलों का संगठन अभी तक

विद्यमान है। प्रत्येक कबीला टोलियों में बंटा हुआ था, और टोलियां परिवारों के समूहों में बंटी हुई थीं। हर परिवार समूह का अपना एक कबीला चिन्ह होता था। चाहे कोई जानदार वस्तु हो चाहे बेजान। जिनका परस्पर एक ही टोटम होता था, वह विजातीय विवाह करने वालों के समूह के रूप में संगठित हो जाते थे जिन्हें हम गोत्र या कुल कहते हैं। सगोत्र परिवारों के विवाह संबंध वर्जित थे। क्योंकि यह माना जाता था कि वे एक ही पूर्वज के वंशज हैं और उनकी नसों में एक ही रक्त दौड़ रहा है। इस बात का ध्यान रखकर यदि भिन्न-भिन्न कबीलों और जातियों के इष्ट देव प्रतीकों का अध्ययन किया जाए तो वह नस्ल के निर्णय करने में नासिका माप निरापद कसौटी का काम दे सकता है।

दुर्भाग्य से भिन्न-भिन्न जातियों के विविध टोटमों पर समाज शास्त्र के विद्यार्थियों ने एकदम ध्यान नहीं दिया। यह धारणा है कि इस बात का मुख्य कारण जनगणना आयोगों की लापरवाही है। हिंदू सामाजिक पद्धति की वास्तविक इकाई और हिंदू समाज का मूलाधार उपजाति है। इसका नियम है कि उस उपजाति से बाहर किसी से विवाह न किया जाए। इससे बढ़कर गलती नहीं हो सकती। हिंदू समाज इकाई उपजाति नहीं है किंतु सजातीय विवाह प्रथा के नियम के आधार पर बना हुआ परिवार है। इस अर्थ में हिंदू समाज एक कबायली समाज है वह उपजाति पर आधारित समाज नहीं। हिंदू परिवार में विवाह के अवसर पर कुल और गोत्र के विचार को ही प्रधान महत्व दिया जाता है। जाति और उपजाति का विचार गौण है। हिंदू समाज के कुल और गोत्र का वही दर्जा है जो आदिम समाज में कबायली प्रतीकों (टोटमों) का था। इससे प्रकट होता है कि हिंदू समाज अपने संगठन की दृष्टि से अभी भी कबीला ही है। परिवार उसका आधार है। उसे सजातीय विवाह प्रथा के नियम को लागू करना होता है तो इससे कबीलों के कुल और गोत्र पर आधारित विजातीय विवाह निषेध नियम का पालन करना होता है।

इस बात को स्वीकार करना कि उपजाति की अपेक्षा पारिवारिक महत्व स्थापित होता है महत्वपूर्ण है। इससे हिंदू परिवारों में प्रचलित कुल और गोत्रों के नामों का अध्ययन आवश्यक है। इस प्रकार के अध्ययन से भारत के लोगों की नस्ल के निर्धारण के अध्ययन में बड़ी सहायता मिलेगी। यदि भिन्न-भिन्न जातियों के एक ही कुल और गोत्र हैं तो कहना संभव होगा कि यद्यपि सामाजिक दृष्टि से ये जातियां भिन्न-भिन्न हैं किंतु नस्ल की दृष्टि से एक ही हैं। इस प्रकार के दो अध्ययन हुए हैं। एक महाराष्ट्र में श्री रिसले[1] द्वारा और दूसरा पंजाब[2] में रोज द्वारा। दोनों अध्ययनों का जो निष्कर्ष प्राप्त हुआ है उससे इस सिद्धांत का एकदम खंडन हो जाता है कि अछूत

---

[1] भारत की जनगणना जातीय परिशिष्ट

[2] ग्लोसरी ऑफ ट्राइब्स एंड कास्टम इन पंजाब – रोज, खंड III] पृ. 9.76

आर्यों अथवा द्रविड़ों से भिन्न नस्ल के हैं। महाराष्ट्र की मुख्य आबादी मराठों की है। महार महाराष्ट्र के अछूत हैं। उन दोनों के नस्लीय अध्ययन से पता चलता है कि दोनों एक कुल के हैं। वास्तव में एकरूपता इतनी अधिक है कि मराठों में भी शायद ही कोई एक भी ऐसा कुल हो जो महारों में न हो। इसी प्रकार पंजाब में एक बड़ी जनसंख्या जाटों की है। मजहबी सिख अछूत गिने जाते हैं। उनमें अधिकांश चमार हैं। मानवशरीर शास्त्रीय खोज से प्रकट होता है कि दोनों के गोत्र समान हैं। यह सब बातें सही होने पर यह कैसे कहा जा सकता है कि आर्य भिन्न नस्ल के हैं। जैसा कि मैंने कहा है कि यदि इन चिन्हों (टोटमों), कुलों और गोत्रों का कुछ भी अर्थ है तो इतना अर्थ तो होना ही चाहिए कि जिनका एक ही टोटम है वे संबंधी होंगे। यदि वे एक ही रक्त के रहे तो वे भिन्न नस्ल के नहीं हो सकते। अतः छुआछूत की उत्पत्ति को नस्ल का सिद्धांत नहीं मानना चाहिए।

सभ्यता एक वरदान है। वह मानव व प्रकृति, कला के कौशल के ज्ञान का संचित भंडार है। वह एक नैतिक संहिता है, जो अपने साथियों के प्रति मानव के आचरण को विनियमित करती है। वह एक सामाजिक संहिता है, जो प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा पालन किए जाने वाले नियमों–विनियमों की व्यवस्था करती है। वह एक नागरिक संहिता है, जो शासक तथा शासित के अधिकारों तथा कर्तव्यों का प्रावधान करती है।

– डॉ. भीमराव अम्बेडकर

अध्याय 8

छुआछूत की व्यवसायजन्य उत्पत्ति

अब हम छुआछूत की व्यवसायजन्य उत्पत्ति के मूल सिद्धांत पर चर्चा करेंगे। श्री राइस के अनुसार छुआछूत का आधार गंदे और घृणित पेशा पाया जाता है। यह मत कुछ युक्तिसंगत जंचता है लेकिन इससे छुआछूत की उत्पत्ति की सच्ची व्याख्या स्वीकार करने में कुछ कठिनाइयां हैं। अछूत जिन गंदे और घृणित पेशों को करते हैं वे सभी मानव समाजों में समान हैं। हर समाज में ऐसे लोग हैं जो इन पेशों को करते हैं। संसार के दूसरे देशों में ऐसे लोगों के साथ अस्पृश्यता का व्यवहार क्यों नहीं हुआ? दूसरा प्रश्न है कि क्या द्रविड़ लोगों को इन पेशों से अथवा इन पेशों को करने वालों से घृणा थी? इस विषय में हमारे पास किसी प्रकार का कोई साक्ष्य नहीं है। लेकिन आर्यों के बारे में हमारे पास साक्ष्य हैं। इस साक्ष्य से यही प्रमाणित होता है कि आर्य भी दूसरे लोगों की तरह के थे और उनको पवित्रता तथा अपवित्रता की कल्पना दूसरे प्राचीन लोगों से भिन्न न थी। नारद स्मृति के इस उद्धरण पर विचार करने से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्यों को गंदे पेशे करने में किसी प्रकार का कोई एतराज न था। पांचवें अध्याय में नारद ने सेवा धर्म के उल्लंघन का विचार किया है। उस परिच्छेद में ये श्लोक आए हैं:–

(1) मनीषियों ने शास्त्रों में पांच प्रकार के सेवक बताए हैं। इनमें चार प्रकार के कर्मकार हैं और पांचवें दास हैं। जिनकी पंद्रह कोटियां हैं।

(2) एक विद्यार्थी, एक प्रशिक्षु, एक भृत्य तथा एक अधिकारी।

(3) मनीषियों ने घोषणा की है कि परावलंबित होना तो सभी के लिए समान है, किंतु उनकी पृथक स्थिति और आय उनकी अपनी जाति और पेशे पर निर्भर करती है।

(4) यह बात जान लेने की है कि पेशे दो प्रकार के होते हैं। शुद्ध और गंदे या पवित्र और अपवित्र गंदे पेशे दास करते हैं जो शुद्ध पेशों को कर्मकार (शूद्र) करते हैं।

(5) दरवाजे, शौचालय, सड़क तथा कूड़ा फेंकने की जगह पर झाड़ू लगाना, शरीर के गुह्य अंगों का मर्दन, उच्छिष्ट भोजन तथा मल-मूत्र को इकट्ठा कर फेंकना।

(6) और अंत में जब स्वामी चाहे तो उसके अंगों की मालिश करना। यह काम गंदे (अपवित्र) माने जाने चाहिए। इनके अतिरिक्त शेष सभी काम पवित्र हैं।

25. इस प्रकार शुद्ध काम करने वाले चार प्रकार के सेवकों की गिनती करा दी गई है। दूसरे जो घिनौना कार्य करते हैं दास हैं और वे पन्द्रह प्रकार[1] के हैं।

यह स्पष्ट है कि गंदा काम करने वाले दास थे और झाड़ू लगाना गंदे काम में शामिल था। प्रश्न उठता है दास कौन थे? क्या वे आर्य थे अथवा अनार्य? इसमें कोई संदेह नहीं कि आर्यों में दास प्रथा थी। एक आर्य दूसरे आर्य का दास हो सकता था। चाहे आर्य किसी भी वर्ग का हो वह दास हो सकता था। एक क्षत्रीय दास हो सकता था। एक वैश्य भी, एक ब्राह्मण भी दास हो सकने की संभावना से सर्वथा मुक्त न था। जब देश में चातुर्वर्ण्य एक कानून की तरह प्रचलित हुआ तो दास प्रथा में कुछ परिवर्तन आया। नारदस्मृति के निम्नलिखित उद्धरणों से उस परिवर्तन का रूप स्पष्ट हो जाता है:-

39. "चारों वर्णों के प्रतिलोम क्रम में दास प्रथा के लिए स्थान नहीं यदि आदमी अपने वर्ण धर्म का पालन न करे तो वह इस नियम का अपवाद है। उस अवस्था में दासत्व पत्नी की स्थिति के समान है"। याज्ञवल्क्य भी कहता है:-

183 (2) "दास प्रथा वर्ण व्यवस्था के अनुलोम क्रम से है प्रतिलोम क्रम से नहीं।" याज्ञवल्क्य स्मृति पर विज्ञानेश्वर की मिताक्षरी नामट टीका में इसकी व्याख्या इस तरह की गई है :-

"ब्राह्मणों और शेष वर्णों में दास प्रथा अनुलोम क्रम में रहेगी क्षत्रिय और शेष सभी ब्राह्मण के दास हो सकते हैं। वैश्य और शूद्र क्षत्रिय के दास हो सकते हैं। शूद्र, वैश्य का दास हो सकता है। यह दास प्रथा अनुलोम क्रम से ही लागू हो सकती है।"

---

[1] नारद स्मृति में दासों के वर्ण की व्याख्या निम्नांकित मंत्रों में की गई है:-

5.26. अपने स्वामी के घर जन्मा, उपहार में प्राप्त, विरासत में प्राप्त, दुर्भिक्ष में पोषित, किसी वैद्य स्वामी द्वारा प्रदत्त।

5.27. भारी भरण से मुक्त कराया गया, युद्ध बंदी, युद्ध में विजित "मैं तेरा हूं" कह कर आया हुआ, धर्म त्यागी, सावधि दास।

5.28. भरण पोषण के लिए बना दास, दासी-संबंधों के कारण बना दास, स्वविक्रेता। विधान में दासों के ये 15 वर्ग हैं।

यह परिवर्तन दास प्रथा का पुनर्संगठन मात्र था और उस क्रमागत असमानता का आधार जो चातुर्वर्ण्य की आत्मा है इसे ठोस रूप में व्यक्त करें तो इस नियम का तात्पर्य यह हुआ कि एक ब्राह्मण, एक क्षत्रिय, एक वैश्य तथा एक शूद्र ब्राह्मण का दास हो सकता था।

क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र क्षत्रिय का दास हो सकता है। वैश्य और शूद्र वैश्य का दास हो सकता है। किंतु शूद्र का दास केवल शूद्र ही हो सकता है। यह सब होने पर दास प्रथा कानून प्रचलित रहा। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र कोई भी हो यदि वह दास बनता तो उस पर वह नियम लागू ही होता।

दासों के लिए निश्चित हुए कर्तव्य की ओर ध्यान दें तो यह परिवर्तन किसी तरह का भी परिवर्तन नहीं है। उनका अब भी यही मतलब रखा कि यदि एक ब्राह्मण दास बने, एक क्षत्रिय दास बने, एक वैश्य दास बने अथवा एक शूद्र दास बने तो उसे झाड़ू लगाने का काम करना ही होगा। हां, एक ब्राह्मण किसी क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र के घर में झाड़ू नहीं लगाएगा। किंतु वह एक ब्राह्मण के घर भंगी का काम करेगा, वह एक शूद्र के घर में नहीं करेगा। इसलिए यह स्पष्ट है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जो निश्चित रूप से आर्य हैं, गंदे से गंदा भंगी का काम करते हैं। यदि भंगी का काम एक आर्य के लिए घृणित कार्य नहीं था तो यह कैसे कहा जा सकता है कि गंदे पेशों को करना छुआछूत का कारण है। इसलिए यह सिद्धांत कि गंदे पेशे में लगना अस्पृश्यता है, निराधार सिद्ध होता है।

जिस समाज में कुछ वर्गों के लोग जो कुछ चाहें वह सब कुछ कर सकें और बाकी वह सब भी न कर सकें जो उन्हें करना चाहिए, उस समाज के अपने गुण होते होंगे, लेकिन उनमें स्वतंत्रता शामिल नहीं होगी। अगर इंसानों के अनुरूप जीने की सुविधा कुछ लोगों तक ही सीमित है, तब जिस सुविधा को आमतौर पर स्वतंत्रता कहा जाता है, उसे विशेषाधिकार कहना उचित होगा।

– डॉ. भीमराव अम्बेडकर

भाग चार

छुआछूत की उत्पत्ति के नए सिद्धांत

अध्याय 9. बौद्धों का अपमान—छुआछूत का मूलाधार

अध्याय 10. गोमांस भक्षण—छुआछूत का मूलाधार

अध्याय 9

बौद्धों का अपमान–छुआछूत का मूलाधार

1

1870 से हर दस वर्ष बाद जनगणना आयुक्त द्वारा जनगणना की जो रिपोर्ट प्रकाशित की जाती रही है, उसमें भारत की सामाजिक तथा धार्मिक अवस्थाओं के बारे में अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध न होने वाली अमूल्य जानकारी उपलब्ध है। 1910 से पहले जनगणना आयुक्त का "धर्मानुसार जनसंख्या" नामक एक लेख रहता था। इस लेख में 1. मुस्लिम, 2. हिंदू, 3. ईसाई आदि की जनसंख्या ही रहती थी। 1910 की जनसंख्या की रिपोर्ट में चालू परम्परा को छोड़ कर नई बात अपनाई गई। प्रथम बार हिंदुओं का तीन भिन्न वर्गों में बंटवारा किया गया (1) हिंदू, (2) अध्यात्मवादी और आदिवासी (3) अछूत। तब से यह नवीन वर्गीकरण प्रचलित है।

2

पहले की जनसंख्या की परंपरा को बदल देने से तीन प्रश्न पैदा होते हैं : पहला, 1910 को जनगणना के आयुक्त ने यह नया वर्गीकरण क्यों किया? दूसरा यह कि अपनाए गए वर्गीकरण का आधार क्या था? तीसरा यह कि वे कौन से कारण थे जिनसे कुछ ऐसे रीति-रिवाजों का विकास हुआ जिनसे हिन्दुओं को तीन भिन्न वर्गों में विभाजित करना उचित माना गया।

पहले प्रश्न का उत्तर हमें उस भाषण में मिलता है जो 1909 में आगा खान के नेतृत्व में मुसलमानों ने उस समय के वाइसराय लार्ड मिन्टो के समय में दिया, उसमें मुसलमानों ने अपने लिए, विधानमण्डल, कार्यपालिका तथा सरकारी नौकरियों में पृथक और पर्याप्त प्रतिनिधित्व की मांग की थी। उस भाषण से निम्नलिखित अंश उद्धृत किया[1] जा रहा है।

---

1. अविकल पाठ मेरी पुस्तक पाकिस्तान में देखें, पृष्ठ 431

"1909 की जनगणना अनुसार भारत के मुसलमानों की संख्या 6 करोड़ 20 लाख से ऊपर है। अर्थात् सरकार बहादुर की भारतीय प्रजा के चौथे और पांचवे हिस्से के बीच में। यदि अध्यात्मवादी तथा दूसरे छोटे-मोटे धर्मावलम्बियों के लेख में आने वाली असभ्य जातियां और जो वास्तव में हिंदू न होने पर भी हिंदू गिने जाते हैं, उन्हें बाहर कर दिया जाए तो हिंदू जनसंख्या की तुलना में मुसलमानों का अनुपात बहुत बढ़[1] जाएगा। इसलिए हम यह निवेदन करना उचित समझते हैं कि प्रतिनिधित्व की किसी भी विस्तृत अथवा संकुचित पद्धति में एक ऐसी जाति जिसकी जनसंख्या रूस को छोड़कर किसी भी प्रथम दर्जे के यूरोपीय शक्ति की जनसंख्या से अधिक है, उचित तौर पर यह मांग कर सकती है कि उसे राज्य में एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो[1]।

"हम सरकार बहादुर की आज्ञा से एक कदम आगे जाकर यह आग्रह करना चाहते हैं कि प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी भी प्रकार के प्रतिनिधित्व में और अन्य सब बातों में जिनका उनके पत्र और प्रभाव से संबंध हो, मुस्लिम जाति को जो पद मिले वह उनकी जनसंख्या के ही अनुरूप नहीं बल्कि उनके राजकीय महत्व तथा साम्राज्य की रक्षा में उनसे जो सहायता मिलती है उसके भी अनुरूप होना चाहिए। हमें यह भी आशा है कि इस विषय में सरकार इस बात को और भी ध्यान देगी कि सौ वर्ष से कुछ ही अधिक समय पहले भारत में मुसलमानों की क्या स्थिति रही है और यह कि उसकी याद उनके दिलों से स्वाभाविक तौर पर मिट नहीं गई है।"

इटेलिक्स में दिए गए कुछ शब्दों का गूढ़ार्थ है। ये शब्द भाषण में यही बात सुझाने के लिए दिए गए हैं कि हिंदुओं के साथ मुसलमानों की तुलना करते समय हिंदुओं की जनसंख्या में से अध्यात्मवादी आदिवासी तथा अछूतों की जनसंख्या कम कर दी जाए। इसका कारण 1910 में जनगणना आयुक्त ने हिंदुओं के वर्गीकरण की जो यह नई पद्धति स्वीकार की उसका आधार मुसलमानों के लिए पृथक प्रतिनिधित्व में वृद्धि की मांग की है। हिंदुओं ने इस मांग का अर्थयही लिया था।[2]

पहले प्रश्न के बारे में यह रुचिकर है कि जनगणना आयुक्त ने वर्गीकरण की यह नई पद्धति क्यों अपनाई उतना महत्त्वपूर्ण नहीं जितना दूसरा प्रश्न। जानने की महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जनगणना आयुक्त ने हिंदुओं को भिन्न-भिन्न वर्गों में किस आधार

---

1. इटेलिक्स में दिए गए वाक्यांश मूल नहीं हैं।
2. मुस्लिम सम्प्रदाय द्वारा 1909 में लार्ड मिंटो को दिए गए ज्ञापन के बाद कार्रवाई हुई जिसमें मुसलमानों के लिए पृथक और पर्याप्त प्रतिनिधित्व की मांग की गई थी। हिंदुओं को दाल में काला नजर आया क्योंकि जनगणना आयुक्त का कहना था:-
   संयोग से जांच से उग्रता उत्पन्न हुई क्योंकि वह दुर्भाग्य से ऐसे समय की गई जब हिंदुओं को आशंका हुई कि हिंदुओं के कुछ वर्गों को पृथक मान लिया जाएगा और उनके राजनीतिक महत्व पर प्रभाव पड़ेगा। भाग 1, पृष्ठ 116।

पर (1) जो शतप्रतिशत हिंदू थे। (2) जो नहीं थे, में वर्गीकृत किया।

जनगणना आयुक्त ने इस वर्गीकरण का जो आधार बनाया यह जनगणना आयुक्त द्वारा जारी परिपत्र में दिया गया है। उसमें उसने दोनों वर्गों को बांटने के लिए खास–खास कसौटियां[1] निश्चित की हैं जो शतप्रतिशत हिंदू नहीं। ऐसी जातियों और कबीलों के लक्षण इस प्रकार दिए गए हैं:–

1. ब्राह्मणों का प्रभुत्व नहीं मानते।
2. किसी ब्राह्मण अथवा अन्य किसी माने हुए हिंदू गुरु से मंत्र नहीं लेते।
3. देवों को प्रमाण नहीं मानते।
4. हिंदू देवी देवताओं को नहीं पूजते।
5. अच्छे ब्राह्मण उनका संस्कार नहीं करते।
6. उसका कोई ब्राह्मण पुरोहित नहीं होता।
7. हिंदू मंदिरों के गर्भ–गृहों में नहीं जा सकते।
8. स्पर्श अथवा एक निश्चित सीमा के भीतर आकर उसे अपवित्र कर देते हैं।
9. अपने मुर्दों को गाढ़ते हैं।
10. गौमांस खाते हैं और गौ के प्रति श्रद्धा नहीं रखते।

इन दस कसौटियों में से कुछ ऐसी हैं जो हिंदुओं को अध्यात्मवादियों और आदिवासियों से पृथक करती हैं। शेष ऐसी हैं जो उन्हें अछूतों से पृथक करती हैं। अछूतों को हिंदुओं से पृथक करने वाली क्रम संख्या 2, 5, 6, 7 तथा 10 है। हमारा संबंध विशेष रूप से उन्हीं से है।

स्पष्टता के लिए अच्छा है कि हम इन कसौटियों को हिस्सों में बांट लें, और उन पर पृथक–पृथक विचार करें। इस अध्याय में केवल क्रम सं. 2, 5 तथा 6 पर विचार होगा। सं. 2, 5, 6 कसौटियों के अंतर्गत जो प्रश्न हैं उनके जनगणना आयुक्त को जो उत्तर मिले हैं उनसे प्रकट होता है कि (1) अछूत किसी ब्राह्मण से मंत्र नहीं लेते (2) अच्छे ब्राह्मण अछूतों का संस्कार नहीं करते और (3) अछूतों के अपने में से पैदा किए हुए निजी पुजारी होते हैं। सभी प्रांतों के

---

[1] देखें भारत की जनगणना (1911), भाग 1, पृष्ठ 117

जनगणना आयुक्त, इन बातों पर एकमत हैं।[1]

इन प्रश्नों में तीसरा सबसे महत्त्व का है। दुर्भाग्य से जनगणना आयुक्त ने इसको नहीं समझा। क्योंकि वह अपनी प्रश्नावली में इस मामले की तह तक नहीं जा सका। उसने यह जानने की कोशिश नहीं की कि अछूत ब्राह्मणों के मंत्र क्यों नहीं लेते? ब्राह्मण का संस्कार क्यों नहीं करते? अछूत अपना ही पुजारी क्यों पसंद करते हैं? और सबकी अपेक्षा इन बातों में "क्यों" का सार्थक महत्त्व है। इन बातों के "क्यों" की जांच करनी चाहिए। क्योंकि अस्पृश्यता उत्पत्ति का मूल कारण इन्हीं में कहीं छिपा हुआ है।

इस जांच के कार्य में आगे बढ़ने से पहले यह बात ध्यान दिला देने की है कि जनगणना आयुक्त की प्रश्नावली एकपक्षीय थी। इससे प्रकट होता है कि ब्राह्मण अछूतों से घृणा करते थे। उसने इस बात को प्रकट नहीं किया कि अछूत भी ब्राह्मणों से घृणा करते हैं। लेकिन यह एक वास्तविकता है। लोगों को यह सोचने का कि ब्राह्मण अछूत से ऊंचा है, इतना अधिक अभ्यास हो गया है कि अछूत भी अपने आपको उससे नीचा मानता है कि यदि लोगों को यह बताया जाए कि अछूत ब्राह्मण को एक अपवित्र व्यक्ति मानते हैं तो उन्हें बड़ा ही आश्चर्य होगा, किंतु जिन लेखकों ने अछूतों के सामाजिक रीति-रिवाजों को ध्यान से देखा है और उनकी परीक्षा की है उन्होंने इस बात का उल्लेख किया है। इस विषय में किसी भी तरह से संदेह के निवारणार्थ उनके लेखों में से कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं।

श्री अब्बेदूब्याव[2] का ध्यान इस ओर गया है। उनका कहना है:-

"आज भी गांव में एक पैरिया (अछूत) ब्राह्मणों की गली से नहीं गुजर सकता। यद्यपि शहरों में अब कोई उसे ब्राह्मण के घर के पास से गुजरने से नहीं रोकता अथवा

---

[1] देखें 1911 की जनगणना, पृष्ठ 40
बंगाल, बिहार और ओड़िसा, पृष्ठ 282
मध्य प्रांत, पृष्ठ 73
मद्रास, पृष्ठ 51
पंजाब, पृष्ठ 109
सं. प्रा., पृष्ठ 121
बड़ौदा, पृष्ठ 55
मैसूर, पृष्ठ 53
राजपूताना, पृष्ठ 105
कोर, पृष्ठ 198

[2] हिंदू मैनर्स एण्ड कस्टम, तृतीय संस्करण, पृ. 61 पर टिप्पणी।

नहीं रोक सकता। किंतु दूसरी ओर एक पैरिया किसी भी स्थिति में एक ब्राह्मण को अपनी झोंपड़ियों के बीच से नहीं गुजरने देगा। उनका पक्का विश्वास है कि यह उनके विनाश का कारण होगा।"

तंजावर जिले के गजेटियर के संपादक श्री हेमिंग्जवे का कथन है:–

"ये जातियां तंजावर जिले की पेरियन, पल्लन या चक्कीलियम अछूत जातित्व किसी ब्राह्मण के अपने मुहल्ले में प्रवेश करने का बड़ा विरोध करती हैं। उनका विश्वास है कि इससे उनकी बड़ी हानि[1] होगी।"

मैसूर के हसन जिले के हौलैंड लोगों के बारे में बताते हुए कैप्टन श्री जे.एस. एफ. मैकेन्जी लिखते हैं:

"गांव की सीमा के बाहर हर गांव की "हालीगिरी" है अर्थात खेतिहर दास जो होलियर कहलाते हैं उनके निवास स्थान हैं। मेरा विचार है कि यह इसलिए है कि वे घिनौनी नस्ल के समझे जाते हैं जिनके स्पर्श मात्र से अपवित्रता[2] लगती है।"

सामान्य रूप से जो ब्राह्मण किसी होलियर के हाथ से कुछ भी ग्रहण करने से इंकार करते हैं इसका वही कारण बताते हैं। किंतु ब्राह्मण इसे अपने लिए बड़े सौभाग्य की बात समझते हैं, यदि वे बिना अपमानित हुए हालीगिरी में गुजर जाएं। होलियरों को इस पर बड़ी आपत्ति है। यदि एक ब्राह्मण उनके मुहल्ले में जबरदस्ती घुसे तो सारे के सारे इकट्ठे बाहर आकर उसे जूते मारते हैं और कहा जाता है कि पहले तो उसे जान से भी मार डालते थे। दूसरी जातियों के लोग दरवाजे तक आ सकते हैं किंतु घर में नहीं घुस सकते। क्योंकि उनका प्रवेश अपशकुन समझा जाता था। ऐसा होने से होलियर पर दुर्भाग्य बरस पड़ेगा। यदि कभी कोई किसी तरह से घर के अंदर आ ही घुसे तो मालिक आगन्तुक का कपड़ा फाड़कर उसके एक कोने में नमक बांध देगा और उसे बाहर निकाल देगा। इससे यह समझा जाता है कि सीमोल्लंघन करने वाले घुसपैठिये हो जाने से अपशकुन का प्रभाव मिट जाएगा और घर के मालिक पर किसी प्रकार की विपत्ति नहीं आएगी।

इस विचित्र स्थिति की क्या व्याख्या की जा सकती है? इस व्याख्या का पूर्व-स्थिति से तारतम्य होना चाहिए। अर्थात अछूत-अछूत नहीं थे। कहीं से उजड़कर आए कबीले थे अर्थात् छितरे व्यक्ति थे। हमें यह प्रश्न करना चाहिए कि ब्राह्मण ने इन छितरे वर्ग के धार्मिक रीति-रिवाजों के अवसर पर पौरोहित्य करने से क्यों इंकार किया? क्या यह बात है कि खुद ब्राह्मणों ने पौरोहित्य करने से इंकार किया? अथवा यह बात है

---

1. गजैटियर आफ तंजोर डिस्ट्रिक्ट (1906), पृष्ठ 80
2. इण्डियन एंटीक्वेरी 1873 II, 65

कि इन छितरे व्यक्तियों ने ही ब्राह्मणों को मान्यता देने से इंकार किया। ब्राह्मणों ने छितरे व्यक्तियों को "अपवित्र" क्यों माना? फिर छितरे हुए आदमियों ने ब्राह्मणों को अपवित्र क्यों माना? इस परस्पर घृणा का क्या कारण है?

इस परस्पर घृणा से एक स्पष्टीकरण यह हो सका है कि ये छितरे आदमी बौद्ध थे। इसलिए वे ब्राह्मणों का आदर नहीं करते थे उन्हें पुरोहित नहीं बताते थे और उन्हें अपवित्र समझते थे। दूसरी ओर ब्राह्मण भी इन छितरे आदमियों को पसंद नहीं करते थे, क्योंकि वे बौद्ध थे। उनके विरुद्ध घृणा का प्रचार करते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि छितरे आदमी अछूत समझे जाने लगे।

हमारे पास इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि वे छितरे आदमी बौद्ध थे। किंतु किसी प्रमाण की आवश्यकता भी नहीं है, जबकि उस समय अधिकांश हिंदू बौद्ध ही थे। हम मान लेते हैं कि वे बौद्ध थे।

इसके प्रमाण हैं कि हिंदुओं के मन में बौद्धों के विरुद्ध घृणा का भाव विद्यमान था और यह घृणा का भाव ब्राह्मणों का पैदा किया हुआ था।

नीलकंठ ने अपने "प्रायश्चित मयूख"[1] में मनु का एक श्लोक उद्धृत किया है। जिसका अर्थ इस प्रकार है:–

"यदि कोई आदमी किसी बौद्ध, पाशुपात पुष्प, लोकायत, नास्तिक अथवा किसी महापातकी का स्पर्श करेगा तो वह स्नान करने से ही शुद्ध हो सकेगा।"

अपरार्कर ने अपनी स्मृति[2] में इसी मत का प्रचार किया है। वृद्ध हारीत ने एक कदम आगे जाकर बौद्ध विहार में जाने को पाप घोषित किया है, जिससे मुक्त होने के लिए आदमी को स्नान करना चाहिए।

बुद्ध के अनुयायियों के विरुद्ध इस घृणा के भाव का इतना अधिक प्रचार हो गया था कि यह संस्कृत नाटकों में देखा जा सकता है। इस दुर्भावना का सबसे अच्छा प्रमाण 'मृच्छकटिक' में है। नाटक के सातवें प्रकरण में नायक चारुदत्त अपने मित्र चैत्रेय के साथ नगर के बाहर उद्यान में बसन्त सेना की प्रतीक्षा कर रहा है। वह नहीं आई, अतः चारुदत्त उद्यान से चला जाना चाहता है। ज्यों ही वे विदा होते हैं, वे समवाहक नाम के बौद्ध भिक्षु को देखते हैं। उसके दिखाई देने पर चारुदत्त कहता है:–

"मित्र मैत्रेय, मैं बसन्त सेना से मिलने के लिए उत्सुक हूं आओ हम चलें। (थोड़ा

---

1. घोरपड़े द्वारा सम्पादित, पृ. 95
2. स्मृति समुच्चय, पृ., 118

चलकर) ओह! यह तो अपशकुन हो गया, एक बौद्ध श्रमण हमारी ओर चला आ रहा है। (थोड़ा विचार कर) अच्छा उसे आने दो, हम दूसरे रास्ते से चले जाते हैं।"

आठवें प्रकरण में भिक्षु राजा के साले शकार के उद्यान में एक तालाब पर कपड़े धो रहा है। विट के साथ शकार आता है और उसे देखकर श्रमण को मारने की धमकी देता है। उनके बीच निम्नलिखित संवाद विशेष महत्त्व का है।

"शकार – ठहर अरे दुष्ट श्रमण।

श्रमण – ओह! यह राजा का साला है। क्योंकि यह किसी श्रमण से रुष्ट हो गया है, इसलिए अब जो भी श्रमण मिलता है यह उसे पीटता है।

शकार – ठहर, मैं तेरे सर को ऐसे ही चूर-चूर कर डालूंगा जैसे कसी सराय में कोई मूली को।

विट – मित्र, एक श्रमण को, जिसने संसार त्याग कर काषाय पहन रखा है, पीटना अच्छा नहीं।

श्रमण – उपासक! प्रसन्न रहें।

शकार – मित्र, देख यह मुझे गाली दे रहा है।

विट – यह क्या कह रहा है।

शकार – यह मुझे उपासक कहता है। क्या मैं नाई हूं।

विट – यह तो वास्तव में तुम्हें बुद्ध का उपासक बना तुम्हारी प्रशंसा कर रहा है।

शकार – यह यहां क्यों आया है।

श्रमण – इस चीवर को धोने के लिए।

शकार – ओह! अरे दुष्ट श्रमण मैं स्वयं इस तालाब में स्नान नहीं करता। मैं तुझे एक प्रहार से मार डालूंगा।

काफी मारपीट के बाद श्रमण को जाने दिया जाता है। यहां हिन्दुओं की भीड़ के बीच एक बौद्ध श्रमण दिखाई देता है। उससे दूर-दूर रहा जाता है और बचा जाता है। उसके विरुद्ध घृणा का भाव इतना जबरदस्त है कि जिस सड़क पर वह चलता है लोग उस सड़क से भी बचते हैं। घृणा का भाव इतना प्रबल है कि बौद्ध जिस मार्ग से जाता है हिन्दू उस पर चलना ही छोड़ देते हैं। बौद्ध श्रमण का दर्जा ब्राह्मण के समान है। ब्राह्मण मृत्यु दण्ड से मुक्त है। उसे शारीरिक दण्ड भी नहीं दिया जा सकता किन्तु एक बौद्ध श्रमण मारा जाता है, बिना किसी प्रायश्चित के, बिना किसी

आत्मग्लानि के, मानो इसमें कोई बुराई ही नहीं।

यदि हम स्वीकार कर लें कि ये छितरे व्यक्ति बौद्ध थे और ब्राह्मण धर्म के बौद्ध धर्म पर हावी हो जाने पर दूसरों की तरह इन्होंने आसानी से बौद्ध धर्म छोड़कर ब्राह्मण धर्म ग्रहण करना स्वीकार नहीं किया, तो हमें दोनों प्रश्नों का एक समाधान मिल जाता है। इससे यह बात साफ हो जाती है कि अछूत ब्राह्मणों को अशुभ क्यों मानते हैं, वे उन्हें पुरोहित क्यों नहीं बनाते और अपने मुहल्लों तक में क्यों नहीं आने देते? इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ये छितरे व्यक्ति क्यों अछूत समझे गए? ये छितरे व्यक्ति ब्राह्मणों से घृणा करते थे क्योंकि ब्राह्मण बौद्ध धर्म के शत्रु थे और ब्राह्मणों ने इन छितरे आदमियों को अछूत बनाया। क्योंकि ये बौद्ध धर्म को छोड़ने के लिए तैयार नहीं थे। इस तर्क से यह निष्कर्ष निकलता है कि अस्पृश्यता के मूल कारणों में से एक कारण घृणा का भाव है जो ब्राह्मणों ने बौद्धों के प्रति पैदा किया।

क्या बौद्ध धर्म और ब्राह्मण धर्म के बीच की घृणा ही इन छितरे आदमियों के अछूत बन जाने का एकमात्र कारण हो सकता है? स्पष्ट है कि नहीं। ब्राह्मणों ने बौद्धों के विरुद्ध समान रूप से घृणा का प्रचार किया था, इन छितरे आदमियों के विरुद्ध कुछ विशेष रूप से नहीं, क्योंकि अस्पृश्यता ने केवल इन छितरे व्यक्तियों को अपने शिकंजे में कस लिया। क्या इसके अतिरिक्त कुछ और भी परिस्थितियां रही होंगी? इससे आगे हम इसी दिशा में कुछ निर्णय करने का प्रयत्न करेंगे।

अध्याय 10

गोमांस भक्षण–छुआछूत का मूलाधार

अब हम जनगणना आयुक्त के परिपत्र में दी गई संख्या–10 को लेते हैं, इसका प्रसंग पूर्व अध्याय में आ चुका है, जो गोमांस खाने से संबंधित है।

जनगणना के परिणामों से ज्ञात होता है कि जो जातियां आजकल "अछूत" गिनी जाती हैं, उनके भोजन का मुख्य मद मरी गाय का मांस है। "हिंदू जाति" चाहे कितनी ही नीच क्यों न हो, गोमांस का स्पर्श नहीं करेगी। दूसरी और कोई जाति नहीं, जो वास्तव में "अछूत" है और जिसको मृत गो से कुछ लेना देना नहीं। कुछ उसका मांस खाते हैं, कुछ उसका चमड़ा उतारते हैं, कुछ उसके चमड़े तथा हड्डी की चीजें बनाते हैं।

जनगणना के आयुक्त के सर्वेक्षण से यह प्रमाणित हो जाता है कि अछूत गोमांस खाते हैं। तो प्रश्न यह है कि क्या गोमांसाहार का अस्पृश्यता की उत्पत्ति से कोई संबंध है? अथवा अछूतों के आर्थिक जीवन में यह एक सामान्य घटना है? क्या हम कह सकते हैं कि छितरे व्यक्तियों को जो गोमांस खाते थे अछूत कहा जाने लगा? यह तथ्य है।

सर्वप्रथम हमारे पास ये तथ्य हैं कि अछूत और अछूत कहे जाने वाले अन्य समुदाय मृत गोमांस खाते हैं, अन्य नहीं। छुआछूत और मृत गोमांस के प्रयोग के बीच इतना अधिक गहन संबंध है कि छुआछूत की जड़ों का सिद्धांत अकाट्य प्रतीत होता है। दूसरे यदि अछूतों और हिंदुओं को अलग करने वाली कोई बात है तो वह है गोमांसाहार। हिंदुओं के आहार के दो सिद्धांत हैं जो विभाजक रेखा का कार्य करते हैं। एक सिद्धांत मांसाहार के विरुद्ध है जो हिंदुओं को शाकाहारियों और मांसाहारियों में विभाजित करता है। दूसरा सिद्धांत गोमांसाहार के विरुद्ध है जो हिंदुओं को उन दो वर्गों में विभाजित करता है जो गोमांस खाते हैं और जो गोमांस नहीं खाते हैं। छुआछूत के बारे में पहली विभाजक रेखा का कोई महत्त्व नहीं है। लेकिन दूसरी विभाजक रेखा का महत्त्व है, क्योंकि यह अछूतों और गैर–अछूतों को पूर्ण रूप से विभाजित

करती है। गैर-अछूत, चाहे वे मांसाहारी हैं या दूसरे हैं, सभी गोमांसाहार के विरोध में एकजुट हैं। अतः अछूत, जो बिना किसी संताप और पश्चाताप के तथा आदतन[1] गोमांस खाते हैं, हिन्दुओं के विरुद्ध हो गए हैं।

इस संदर्भ में यह सुझाव देना कोई बड़ी बात नहीं है कि जिन्हें गोमांस भक्षण के प्रति घृणा है वे गोमांसाहारियों को अछूत मानें।

वास्तव में गोमांसाहार अछूतपन का प्रधान कारण होने के संबंध में किसी प्रकार की अटकलबाजी की आवश्यकता नहीं। इस नये सिद्धांत का हिंदू शास्त्र ही समर्थन करते हैं। वेद व्यास स्मृति में निम्नलिखित श्लोक हैं जो अन्त्यजो की श्रेणी में गिनी जातियों के नाम[2] और उनकी स्थिति का आधार बताते हैं।

एल-12-13 "चर्मकार (मोची), भट्ट (सैनिक), भील, रजक (धोबी), पुष्कर, नट (अभिनेता), व्रात्य, मेड, चाण्डाल, दास, स्वापक, कौलिक तथा वे दूसरे सब जो गोमांस खाते हैं, अंत्यज कहलाते हैं।"

सामान्यतः स्मृतिकार अपने मन्तव्यों के क्यों और कैसे के चक्कर में कभी नहीं पड़ते। लेकिन यह एक अपवाद है क्योंकि वहां वेदव्यास अस्पृश्यता के कारणों की व्याख्या कर रहे हैं। इसमें तथा वे दूसरे सब जो गोमांस खाते हैं वाक्यांश बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसका मतलब है कि स्मृतिकार इस बात को जानते थे कि छुआछूत का कारण गो-मांसाहार में दिया है। वेदव्यास की इस उक्ति के बाद किसी प्रकार के तर्क-वितर्क का स्थान नहीं रहना चाहिए। यह तो 'हाथ कंगन को आरसी क्या' बात जैसी है और विशेषता यह है कि यह व्याख्या बुद्धिगम्य भी है, क्योंकि जो कुछ हम जानते हैं उन बातों से इसका पूरा-पूरा मेल बैठता है।

अस्पृश्यता की उत्पत्ति की खोज में दो नई बातें सामने आई हैं। एक बात तो यह सामान्य घृणा है जो ब्राह्मणों ने बौद्धों के विरुद्ध फैला रखी थी और दूसरे छितरे व्यक्तियों के मांस खाते रहने की आदत है। जैसा कि पहले कहा गया है, केवल पहली बात छितरे आदमियों पर अछूतपन का कलंक लगाने के लिए पर्याप्त नहीं समझी जा सकती। क्योंकि ब्राह्मणों ने बौद्धों के प्रति जो घृणा का भाव फैलाया था वह तो सामान्य रूप से सभी बौद्धों के विरुद्ध था, कुछ केवल छितरे व्यक्तियों के

---

[1] अछूतों पर हिन्दुओं द्वारा गोमांस खाने का जो दोषारोपण किया जाता है उससे प्रभावित होकर अछूतों ने गोमांस खाना छोड़ने के बजाय एक नये दर्शन का आविष्कार किया है। उनका कहना है कि हम गा. ेमांस को यों ही इधर-उधर न फेंककर उसे खा लेते हैं। यह हमारा गो भक्ति का श्रेष्ठतर ढंग है।

[2] काशी की हिस्ट्री ऑफ धर्म सूत्र खण्ड II. भाग 1, पृ. 71 से उद्धृत।

विरुद्ध तो था नहीं। केवल छितरे व्यक्त ही अछूत क्यों बने, इसका मुख्य कारण यही था कि वे बौद्ध तो थे ही, उसके साथ उन्होंने अपनी गो-मांस खाने की नई आदत भी बना ली थी। इससे ब्राह्मणों को अपनी नयी गो-भक्ति को उसकी चरम सीमा तक पहुंचाने का और अवसर मिल गया। तब हमारा निष्कर्ष है कि छितरे व्यक्ति होने के कारण वे घृणा के पात्र बने क्यों वे बौद्ध थे और गो-मांसाहारी होने के कारण अस्पृश्यता का शिकार।

गोमांसाहार को छुआछूत का कारण होने के सिद्धांतों के स्वीकार करने से अनेक प्रश्न पैदा होते हैं। समालोचक निश्चय ही पूछेंगे, हिन्दुओं का गो-मांसाहार के विरुद्ध घृणा का कारण क्या है? क्या हिन्दू सदा से ही गो-मांसाहार के विरुद्ध रहे हैं? जिस समय हिन्दुओं ने गो-मांस भक्षण छोड़ा तो उन्होंने भी उसी समय क्यों नहीं छोड़ दिया? क्या अछूत सदैव रहे हैं? यदि ऐसा समय था जब अछूत गो-मांसाहारी होने के बावजूद अछूत नहीं थे, तो बाद में गो-मांसाहार छुआछूत का कारण कैसे बन गया?

यदि हिन्दू गो-मांस खाते रहे हैं तो उन्होंने उसे कब खाना छोड़ा? यदि अस्पृश्यता हिन्दुओं के गो-मांसाहारी होने के विरुद्ध घृणा की स्रोत है, तो हिन्दुओं को गो-मांसाहार छोड़ने के कितने समय बाद छुआछूत अस्तित्व में आयी? इन प्रश्नों का उत्तर देना ही होगा। बिना उत्तर दिये यह नया सिद्धांत संदेहास्पद रहेगा। इसे लोग संभव मान सकते हैं। किन्तु इसे निरापद स्वीकार नहीं करेंगे। जब मैंने एक सिद्धांत का प्रतिपादन किया है तो मुझे इन प्रश्नों का उत्तर भी देना ही होगा।

मैं निम्नलिखित शीर्षकों में उत्तर देना चाहता हूं:–

(1) क्या हिन्दू गोमांस नहीं खाते थे?

(2) हिन्दुओं ने गोमांस खाना क्यों छोड़ा?

(3) ब्राह्मण शाकाहारी क्यों बने?

(4) गोमांसाहार से छुआछूत की उत्पत्ति क्यों हुई? और

(5) छुआछूत की उत्पत्ति कब से हुई?

वे धन्य हैं जो अनुभव करते हैं कि जिन लोगों में हमारा जन्म हुआ है, उनका उद्धार करना हमारा कर्तव्य है। धन्य हैं वे, जो गुलामी का खात्मा करने के लिए सब-कुछ न्यौछावर करते हैं, और धन्य हैं वे, जो सुख और दुख, मान और सम्मान, कष्ट और कठिनाइयों, आंधी और तूफान की परवाह किए बिना तब तक संघर्ष करते रहेंगे, जब तक कि अस्पृश्यों को उनके मानवीय जन्मसिद्ध अधिकार न मिल जाएं।

– डॉ. भीमराव अम्बेडकर

भाग पांच

नए सिद्धांत और कुछ प्रश्न

अध्याय 11. क्या हिन्दू गोमांस कभी नहीं खाते थे?
अध्याय 12. गैर-ब्राह्मणों ने गोमांस खाना क्यों छोड़ा?
अध्याय 13. ब्राह्मण शाकाहारी क्यों बने?
अध्याय 14. गोमांसाहार से छितरे व्यक्ति अछूत कैसे बने?

अध्याय 11

क्या हिंदू गोमांस कभी नहीं खाते थे?

इस प्रश्न के उत्तर में कि क्या हिन्दुओं ने कभी गोमांस खाया है प्रत्येक हिन्दू चाहे वह ब्राह्मण हो या अब्राह्मण यही उत्तर देगा नहीं, कभी नहीं। इस तरह से उसका कहना ठीक है। दीर्घकाल से कभी हिन्दू ने गोमांस नहीं खाया। यदि सवर्ण हिन्दू के उत्तर का यही भावार्थ है तो हमारा इससे कोई विवाद नहीं है। लेकिन जब पढ़े-लिखे ब्राह्मण यह कहते हैं कि हिन्दुओं ने कभी गोमांस नहीं खाया बल्कि वे गो को सदा ही पवित्र मानते रहे हैं और सदा से ही गोहत्या के विरोधी रहे हैं। यह स्वीकार करना कठिन है।

इस मत के पक्ष में कौन से प्रमाण हैं कि हिन्दुओं ने कभी गोमांस नहीं खाया और वे गोवध विरोधी थे?

ऋग्वेद में दो तरह के प्रमाण हैं जिन्हें आधार मानकर विश्वास किया जा सकता है। इस प्रकार के प्रमाण में गो को अवध्य कहा[1] है। अवध्य का अर्थ है मारने योग्य नहीं। इससे यह अर्थ लिया जाता है कि यह गोहत्या निषेध आदेश है। और क्योंकि धर्म के मामले में वेद अंतिम प्रमाण है, इसलिए यह कहा जाता है कि गोमांस खाने की बात तो क्या आर्य गो की हत्या ही नहीं कर सकते थे। दूसरे प्रकार के प्रमाणों में गो को पवित्र कहा गया[2] है। इन मन्त्रों में गो को रूद्रों की माता, वसुओं की पुत्री, आदित्यों की बहन और अमृत का केन्द्र-बिन्दु कहा गया है ऋग्वेद में एक और उल्लेख है जहां गो को देवी कहा गया है।

ब्राह्मण और सूत्र ग्रंथों के कुछ वाक्यों को भी आधार माना जाता है। शतपथ ब्राह्मण में दो स्थल ऐसे हैं जिनका गो हत्या और गो मांसाहार से संबंध है। एक 3.1-2.21 इस प्रकार है:-

"वह (अध्वर्यु) तब उसे मण्डप में प्रविष्ट कराता है। उसे गो अथवा बैल का मांस नहीं खाना चाहिए, क्योंकि पृथ्वी पर जितनी चीजें हैं, निस्संदेह गो और बैल

---

[1] देखिए ऋग्वेद ऋचा 1-164; 27; 4-1.6; 5-82.8; 7-69.71; 10.87

[2] ऋग्वेद 6-28-1.8, 8-101.15

उन सबका आधार हैं। देवताओं ने कहा है। निश्चय ही गो और बैल प्रत्येक वस्तु का आधार है आओ हम दूसरी (पशु योनियों की) जो शक्ति है वह गो और बैल को ही दे दें। चूंकि गो और बैल सबसे अधिक खाते हैं इसलिए यदि कोई किसी गो या बैल का मांस खाता है तो वह सब कुछ खाता है, अथवा वह सबके अंत व सबके विनाश को पहुंचता है। इसलिए उसे गो तथा बैल का मांस नहीं खाना चाहिए।"*

मंत्र संख्या 1, 2, 3 तथा 6 में और स्थल हैं जहां नैतिक आधार पर पशु बलि का निषेध है।

एक इसी प्रकार का कथन आपस्तम्ब धर्मसूत्र के श्लोक 1, 5, 17, 29 में भी है। जहां गो मांसाहार पर एक व्यापक प्रतिबंध लगाया गया है।

हिन्दुओं ने कभी गोमांस नहीं खाया, इस संबंध में यही कथन उपलब्ध है। हम इस साक्ष्य का क्या निष्कर्ष निकाल सकते हैं?

जहां तक ऋग्वेद के साक्ष्य का संबंध है, हम उसे ठीक तौर पर न पढ़ने से और ठीक तौर पर न समझने से ही इस परिणाम पर पहुंच सकते हैं। ऋग्वेद में गो के लिए जो अवध्य विशेषण आया है, उसका अर्थ यही है कि जो दूध देती है, इसलिए वह मारे जाने के अयोग्य है। हां, यह बात तो सत्य है कि ऋग्वेद के समय में गो के लिए आदर था। किन्तु गो के लिए ऐसी आदर और पूजा की भावना की आशा आर्यों जैसी खेतिहर जाति से ही हो सकती है। गो का यह उपयोग आर्यों को उन्हें भोजन के लिए मारने से नहीं रोकता था। वास्तव में गो पवित्र मानी जाने के कारण भी उसकी हत्या होती थी।

काणे का कहना है:–

"ऐसा नहीं था कि वैदिक काल में गो पवित्र नहीं थी। उसकी पवित्रता के कारण ही वाजसनेयी संहिता में यह व्यवस्था दी गई है कि गो मांस खाना चाहिए*।"

ऋग्वेद कालीन आर्य भोजन के लिए गोहत्या करते थे और मांस खाते थे, यह ऋग्वेद से ही एकदम स्पष्ट है। ऋग्वेद में इन्द्र का कथन है कि "वे एक के लिए 15-20 बैल पकाते हैं।" ऋग्वेद (10-86-14) का ही कथन है कि अग्नि देवता के लिए घोड़ों, वृषभों, बैलों, बांझ-गौओं तथा भेड़ों की बलि दी जाती थी। ऋग्वेद (10-72.6) से यह भी स्पष्ट होता है कि गो को एक खड्ग अथवा कुल्हाड़ी से मारा जाता था।

जहां तक शतपथ ब्राह्मण का संबंध है प्रश्न यह है कि क्या वह निर्णयात्मक मानी जा सकती है? स्पष्ट ही है कि नहीं। दूसरे ब्राह्मण ग्रंथों में ऐसे पाठ हैं जो इससे भिन्न मत व्यक्त करते हैं।

---

* धर्मशास्त्र विचार (मराठी), पृ. 180

एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। तैत्तरीय ब्राह्मण में जिन काम्यष्ठि यज्ञों का वर्णन है उनमें न केवल गो और बैल की बलि देने की आज्ञा है किन्तु यह भी स्पष्ट किया गया है कि किस प्रकार के गो और बैल की किस देवता को बलि चढ़ानी चाहिए। विष्णु को नदिया बैल की बलि चढ़ाई जाए, वृत्र संहारक इन्द्र को बलि देना हो तो कृश बैल चुनना चाहिए कि जिसके सींग लटकते हों और जिसके माथे पर टीका हो। पूर्शण के लिए काली गो, रुद्र के लिए लाल गो, और इसी प्रकार तैत्तरीय ब्राह्मण पंयशारदीय सेवा नामक यज्ञ का वर्णन करता है, जिसकी सबसे अधिक महत्त्व की बात यह थी कि उसमें पांच वर्ष की आयु के सत्रह बिना गोखे बाल और नदिया बैल और उतने ही तीन वर्ष की आयु के नदिया बछड़े मारे जाते थे।

और आपस्तम्ब धर्मसूत्र के विरुद्ध निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं:-

पहले तो उसी सूत्र में 15, 14, 29 श्लोकों में जिसके विरुद्ध कथन मिलता है, लिखा है– गाय और बैल पवित्र हैं। इसलिए खाद्य हैं।

दूसरी बात गृह सूत्र में मधुपर्क बनाने की विधि दी गई है। आर्यों में विशेष अतिथियों के स्वागत की एक खास प्रथा थी। जो सर्वश्रेष्ठ चीज परोसी जाती थी उसे मधुपर्क कहते थे। कई गृह सूत्रों में मधुपर्क के बारे में विस्तृत सूचनाएं हैं। गृह्य सूत्रों के अनुसार 6 जनों को अधिकार है कि उन्हें मधुपर्क दिया जाए 1. ऋत्विज अर्थात यज्ञ करने वाला ब्राह्मण, 2. आचार्य, 3. वर, 4. राजा, 5. स्नातक, अर्थात गुरुकुल की शिक्षा सम्पन्न विद्यार्थी तथा 6. ऐसा कोई भी व्यक्ति जो अतिथेय का रूप हो। कोई-कोई इस सूची में अतिथि को भी सम्मिलित करते हैं। ऋत्विज, राजा और आचार्य का उनके आगमन पर मधुपर्क हर बार देना होता था।

यह मधुपर्क किस चीज का बनता था? जिन चीजों से यह मधुपर्क बनता था उनके बारे में मतभेद है। आश्वलायन गृहसूत्र और आपस्तम्ब गृहसूत्र शहद और दही खिलाने की बात कहते हैं (13-10)। पाराशर गृहसूत्र (13) के समान दूसरे सूत्र ग्रंथों के अनुसार मधुपर्क दही, शहद तथा मक्खन तीन चीजों के मिश्रण से बनना चाहिए। आपस्तम्ब गृह सूत्र (13, 11, 12) ने दूसरों के इस मत का भी उल्लेख किया है कि ये तीनों चीजें मिलाई जा सकती हैं। अथवा इन तीनों के साथ भुना हुआ जौं और बाजरा पांच चीजें भी मिलाई जा सकती हैं।

हिरण्य गृह सूत्र (1, 12, 10, 12) दही, शहद, घी, पानी और अन्न इन पांच चीजों में से किन्हीं तीन को मिलाने की छूट देता है। कौशिक सूत्र में 9 प्रकार की चीजों को मिलाने का उल्लेख है। ब्रह्मा (शहद और दही), इन्द्र (दूध और खीर), सौम्य (दही और घी), पूशान (घी तथा मथा हुआ दही), सारस्वत (दूध और घी),

मौसल (सुरा और घी) इसका उपयोग सौत्रामणी और राजसूय यज्ञ में ही होता था), परिव्राजक (सरसों का तेल और उसकी खली)। माधव गृह सूत्र (1, 9, 22) का कहना है कि वेद की आज्ञा है कि मधुपर्क बिना मांस के नहीं होना चाहिए, इसलिए यदि गो को छोड़ दिया तो एक बकरी के अथवा एक मेढ़े के मांस की या पायस की बलि देनी चाहिए (हि.गृ.सू. 1, 13, 14) के अनुसार कोई जंगली मांस (हिरन आदि) की बलि देनी चाहिए। बौधायन गृह सूत्र (1, 13, 14) के अनुसार बिना मांस के मधुपर्क हो ही नहीं सकता। यदि कोई मांस की बलि न दे सकता हो तो वह चावल पका ले।

इस प्रकार मधुपर्क में मांस, विशेष रूप से गो मांस, एक आवश्यक अंश है। अतिथि के लिए गो हत्या की बात इतनी सामान्य हो गई थी कि अतिथि का नाम ही 'गोधना' पड़ गया था अर्थात् गो की हत्या करने वाला। इस हत्या से बचने के लिए आश्वालयान गृह सूत्र का सुझाव है कि अतिथि के आगमन पर गो को छोड़ देना चाहिए। जिससे गो हत्या भी न हो और आतिथ्य नियम भी भंग न हो।

तीसरे आपस्तम्ब धर्म सूत्र के कथन के निराकरण के रूप में मृत देह के संस्कार का उल्लेख किया गया है। सूत्र का कहना[1] है:-

1. उसे तब निम्नलिखित यज्ञ साधन मृत शरीर पर रखने चाहिए।
2. दाएं हाथ में गुहू नाम का चम्मच।
3. बाएं हाथ में उपभृत नाम का दूसरा चम्मच।
4. दायीं ओर "स्पय" नाम की लकड़ी का याज्ञिक खड्ग, बायीं ओर अग्निहोत्रहुवनी। (वह कलछी जिससे अग्निहोत्र हवन में आहुति दी जाती है)।
5. छाती पर ध्रुव (सुवा बड़ा) सिर पर कटोरे, उसके दांतों पर पत्थर।
6. उसकी नाक के दोनों ओर दो स्रुवे।
7. यदि स्रुवा एक ही हो तो उसी के दो टुकड़े कर दिए जाएं।
8. दोनों कानों के पास दो प्रसिन्नहरण अर्थात् वे बर्तन जिनमें ब्राह्मण की याज्ञिक भोजन सामग्री रखी जाती है।

---

[1] काणे, खण्ड II, भाग 1, पृ. 545

9. यदि प्रतित्रहरण एक ही हो तो उसी के दो टुकड़े कर दिये जाएं।
10. पेट पर पत्री नामक बर्तन।
11. वह कटोरी जिसमें याज्ञिक भोजन सामग्री का हिस्सा रखा जाता है।
12. गुप्तांगों पर शमी नाम की लकड़ी।
13. जांघों पर दो जलती हुई लकड़ियां।
14. टांगों पर चूना और पत्थर।
15. पांवों पर दो टोकरियां।
16. यदि एक ही टोकरी हो तो उसी के दो हिस्से कर दें।
17. जो खोखली चीजें हैं उनमें घृत छिड़ककर उन्हें भरा जाता है।
18. मृत व्यक्ति के पुत्र को चक्की के नीचे और ऊपर का पाट उठाना चाहिए।
19. तांबे, लोहे तथा मिट्टी के सामान।
20. मादा पशु के पेट की ओझड़ी निकाल कर ऋग्वेद का यह मंत्र कि "उस बाजू पर जो तेरी आग से रक्षा करेगा और जो गो से प्राप्त होता है" पढ़ते हुए उसके द्वारा मृत व्यक्ति का सिर और मुख ढांप देना चाहिए। (ऋग्वेद 10.16.7)
21. पशु के गुरदे निकाल कर मृत व्यक्ति के हाथों में रख दें। साथ में यह मंत्र पढ़ें– शमी के दोनों पुत्र दोनों कुत्तों से बचें। दाहिने हाथ में दाहिना अंड भाग बाएं हाथ में बायां। (ऋग्वेद 10.14.10)
22. मृत व्यक्ति के दिल पर वह पशुओं का दिल रखे।
23. कुछ आचार्यों के मतानुसार आटे या चावल के दो पिंड भी।
24. कुछ आचार्यों के मतानुसार यह तभी जब गुरदे प्राप्त न हों।
25. पशु के अंग-अंग का बंटवारा करके और उसको मृत व्यक्ति के उन्हीं अंगों पर रख कर और उसे उसकी खाल से ढक कर वह यह मंत्र पढ़ता है:– "हे अग्नि। जब प्रणीता जल आगे ले जाया गया है तो इस कटोरी को मत उलट।" (ऋग्वेद 10.16.8)
26. उसका बायां घुटना मोड़ कर उसे दक्षिण अग्नि में "अग्नेय स्वाहा, कमाया स्वाहा, लोकाय स्वाहा, अनुमतये स्वाहा, कह कर आहुति डालनी चाहिए।"

27. मृत व्यक्ति की छाती पर एक पांचवीं आहुति दी जानी चाहिए। साथ में यह मंत्र "निश्चय ही इससे सहस्रों का जन्म हुआ है। अब वह इसमें उत्पन्न हो। स्वर्ग के लिए स्वाहा।"

ऊपर के आश्वलायन गृह सूत्र के उद्धरण से यह स्पष्ट है कि प्राचीन आर्यों में जब कोई आदमी मरता था तो पशु की बलि दी जाती थी और उस पशु का अंग प्रत्यंग मृत व्यक्ति के उन्हीं अंग प्रत्यंग पर रख कर ही दाह कर्म किया जाता था।

गोहत्या तथा गो मांसाहार के बारे में प्रमाणों की यह स्थिति है। इसमें से कौन सा पक्ष सत्य माना जाए? यथार्थ बात मालूम देती है कि शतपथ ब्राह्मण और आपस्तम्ब धर्म सूत्र के ऐसे लेख जो हिन्दुओं को गोहत्या तथा गो मांसाहार का विरोधी बनाते हैं केवल अत्यधिक गोहत्या तथा गो मांसाहार से विरत करने वाला अभियान है। वे पूर्णतः गो हत्या का निषेध नहीं करते हैं। वास्तव में इन उपदेशों से यही सिद्ध होता है कि उस समय गोमांसाहार बहुत ही प्रचलित हो गया था। इन प्रेरणाओं के बावजूद गोहत्या तथा गोमांसाहार जारी रहा। यह आदेश प्रायः व्यर्थ हो जाते थे, यह आर्यों के महान ऋषि याज्ञवल्क्य के आचरण से सिद्ध होता है। शतपथ ब्राह्मण से जो प्रथम अनुच्छेद ऊपर उद्धृत किया गया है वह वास्तव में याज्ञवल्क्य को ही संबोधित करके कहा गया है। याज्ञवल्क्य ने क्या उत्तर दिया? उस उपदेश को सुन कर याज्ञवल्क्य बोला –

"यदि वह कोमल है तो मैं उसे खाता हूं।"

एक समय हिंदू गोहत्या करते रहे हैं और गोमांसाहार भी करते रहे हैं–यह बात बौद्ध सूत्रों में दिए गए यज्ञों के वर्णन से बहुत अच्छी तरह सिद्ध होती है। बौद्ध सूत्रों का समय वेदों और ब्राह्मण ग्रंथों के बहुत बाद का है जिसके परिणाम में गायों और अन्य पशुओं का वध होता था, वह विकराल है। ब्राह्मणों ने धर्म की आड़ में जो हत्या कांड किया उसका हिसाब लगाना असंभव है। इस पाशविकता का अनुमान लगाना आकाश के तारे गिनने के समान है। फिर भी बौद्धवाङ्मय से इसके संकेत अवश्य मिलते हैं। कूटदंत सूत्र में इसका उदाहरण है। जब बुद्ध कूटदंत नामक ब्राह्मण को पशुहत्या न करने का उपदेश देते हैं बुद्ध अभिव्यंजना शैली में उनका कहना है:–

"और आगे हे ब्राह्मण उस यज्ञ में न बैल मारे गए, न अजा, न कुक्कुट, न मांसल सूअर, न कोई अन्य प्राणी। मण्डप खम्ब के लिए कोई वृक्ष नहीं काटा गया। यज्ञ मण्डप के पास बिछाने के लिए कोई दूब घास भी नहीं छीली गई और न उसमें कार्यरत दास अथवा सेवक भी मार के भय से कार्य करते थे, न ही उस श्रमसाध्य

कार्य से उनके आंसू ढुलक रहे थे।"

दूसरी ओर कुरदंत बुद्ध धम्म और संघ की शरण में जाने का सौभाग्य प्राप्त करने हेतु बुद्ध के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हुए इस प्रकार के यज्ञों में जो भयानक पशुबलि दी जाती है उसका कुछ वर्णन करता है :–

"मैं बौद्ध धर्म की शरण में आता हूं। भंते आज से यावज्जीवन मुझे त्रिशरण–प्राप्त उपासक जानें। हे गौतम मैं स्वयं स्वेच्छा से सात सौ वृषभ, सात सौ तरुण बैल, सात सौ बछड़े, सात सौ अजा और सात सौ भेड़ों को मुक्त करता हूं। वे चरागाहों में विचरें, शीतल जल और बयार से आनंदित हों।"

संयुक्त निकाय में कौशल नरेश प्रसेन्नजित द्वारा किए गए एक यज्ञ का वर्णन है। लिखा है कि पांच सौ वृषभ और पांच सौ बछड़े और बहुत से तरुण बैल, अजा और भेड़ यज्ञ में बलि देने के लिए यूपस्तंभ तक ले जाए गए।

ऐसे साक्ष्य रहने पर किसी को भी उस बारे में संदेह नहीं हो सकता कि एक समय था जब हिन्दू चाहे ब्राह्मण हो चाहे अब्राह्मण हो, न केवल मांसाहारी थे अपितु गोमांस भक्षक भी थे।

इस बारे में तो किसी भी प्रकार का संदेह नहीं किया जा सकता है कि आदिम जातियों, जरामय-पेशा जातियों और अस्पृश्य वर्गों की जो दशा है, वह हिंदू सभ्यता के मूल सिद्धान्तों का ही कुफल है।

– डॉ. भीमराव अम्बेडकर

अध्याय 12

गैर–ब्राह्मणों ने गोमांस खाना क्यों छोड़ा?

हिंदुओं के विभिन्न वर्गों के खान–पान की आदत और प्रकृति और रीति उसी प्रकार स्थित और जड़ीभूत हो गई है जैसे उनके अन्य रीति–रिवाज। जिस प्रकार हम रीति–रिवाजों के आधार पर हिंदुओं को वर्गीकृत कर सकते हैं उसी प्रकार उनके खान–पान की आदतों के आधार पर भी उनका वर्गीकरण किया जा सकता है। जिस प्रकार साम्प्रदायिक दृष्टि से हिंदू या तो शूद्र होते हैं या वैष्णव, उसी प्रकार मांसाहारी होते हैं या शाकाहारी।

साधारणत् मांसाहारी और शाकाहारी का यह वर्गीकरण पर्याप्त हो सकता है। लेकिन यह मानना होगा कि यह पूर्ण वर्गीकरण नहीं है। व्यापक वर्गीकरण के लिए हमें मांसाहारी वर्ग को दो हिस्सों में बांटना होगा।

(1) जो मांस तो खाते हैं किंतु गोमास नहीं खाते। (2) जो गोमांस भी खाते हैं। दूसरे शब्दों में खान–पान को लेकर हिंदू समाज के तीन हिस्से होंगे : (1) "जो शाकाहारी हैं" (2) "जो मांसाहारी है" किंतु गोमांस नहीं खाते। (3) जो गोमांस भी खा लेते हैं। इसी वर्गीकरण के अनुरूप हिन्दू समाज के तीन वर्ग या वर्ण हैं। (1) ब्राह्मण, (2) अब्राह्मण, और (3) अछूत। यद्यपि यह वर्गीकरण हिन्दू समाज के चातुर्वर्ण्य के अनुरूप नहीं है फिर भी यह विद्यमान तथ्यों के अनुरूप तो है ही। ब्राह्मणों[1] में ही एक वर्ग है जो शाकाहारी है और अब्राह्मणों में वह वर्ग है जो मांस खाता है किंतु गोमांस नहीं खाता तथा अछूतों में गोमांस भी खाने वाला वर्ग है।

यह त्रिविध वर्गीकरण पर्याप्त है और वस्तु स्थिति के अनुसार है। कोई भी यदि इस वर्गीकरण पर ध्यान से विचार करे तो अब्राह्मणों की स्थिति उसका ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट करेगी ही। शाकाहारी दोनों समय में आता है। मांसाहारी होना तो समझ में आता है, लेकिन यह बात समझ में आनी कठिन है कि एक मांसाहारी केवल एक प्रकार के मांस अर्थात गो मांस के खाने की क्यों आपत्ति करे? यह एक गुत्थी

---

[1] भारत में ब्राह्मणों की दो श्रेणियों हैं (1) पंच द्रविड़ और (2) पंच गौड़। पहला वर्ग शाकाहारी है, दूसरा नहीं।

है जिसे सुलझाने की आवश्यकता है। अब्राह्मणों ने गोमांस खाना क्यों छोड़ दिया। इसे जानने के लिए इस विधान का अध्ययन आवश्यक है। तत्संबंधी विधान या तो अशोक के निर्देशों में होगा या मनु के विधान में।

II

हम अशोक से ही आरंभ करते हैं। अशोक के वे शिलालेख जिनका इस विषय से संबंध है तीन हैं। शिलालेख संख्या–1, स्तंभलेख संख्या–2 और 5. शिलालेख संख्या–1 इस प्रकार है:–

"यह धर्म लेख देव प्रिय प्रियदर्शी राजा ने लिखवाया है। यहां इस राज्य में राजधानी में किसी जीव को मार कर होम न किया जाए और आनन्दोत्सव न मनाया जाए, क्योंकि देवानाम प्रियदर्शी राजा में बहुत दोष देखते हैं। तथापि एक प्रकार के ऐसे उत्सव हैं जिन्हें देवानाम प्रियदर्शी राजा पसंद करते हैं। पहले राजा की पाकशाला में प्रतिदिन कई शत सहस्त्र जीव सूप (शोरबा) बनाने के लिए मारे जाते थे, पर अब से जबकि यह धर्म लेख लिखा जा रहा है केवल तीन ही जीव मारे जाते हैं (अर्थात) दो मोर और एक मृग। पर मृग का मारा जाना नियम नहीं। ये तीनों प्राणी भी भविष्य में नहीं मारे जाएंगे।"

स्तंभ लेख संख्या–2 इस प्रकार है :–

"देवानाम प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं–धर्म (करना) अच्छा है। पर धर्म क्या है? चित्त क्लेश की न्यूनता, बहुत से शुभ कार्य, दया, दान, सत्य और शौच (पवित्रता) का पालन करना। ज्ञान–दान भी मैंने बहुत प्रकार से किया। दो पायों, चौपायों तथा जलचरों के प्रति मैंने बहुत अनुग्रह किया। मैंने उन्हें प्राण दान दिया तथा और भी अनेक प्रकार के उपकार किए। यह लेख मैंने इसलिए लिखवाया कि लोग इसके अनुसार आचरण करें और यह चिरस्थायी रहे। जो इसके अनुसार चलेगा वह सुकृत करेगा।"

स्तंभ लेख संख्या–5 इस प्रकार है :–

"देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा कहते हैं:– राज्याभिषेक के 26 वर्ष बाद मैंने इन प्राणियों का वध करना बंद करा दिया है, यथा सुग्गा, मैना, अरुण, चकोर, हंस, नान्दीमुख, गोलाट, जतुका (चमगादड़) कछुआ, साही, गिलहरी, बारासिंगा, वृषभ, बंदर, ओकपिंड, मृग, श्वेल फाख्ता और सब तरह के वे चौपाए जो न तो किसी प्रकार उपभोग में आते हैं और न खाए जाते हैं। बकरी, भेड़ और सुअरों, गायों तथा इनके बच्चों को जो छह महीने तक के हों, मारा जाए। मुर्गों को बधिया न किया जाए। जीवित प्राणियों के साथ भूसी को न जलाया जाए। अनर्थ करने के लिए या प्राणियों

की हिंसा करने के लिए वन में आग न लगाई जाए। एक जीव को मार कर दूसरे जीव को न खिलाया जाए। प्रति चार चार महीने की तीन ऋतुओं को तीन पूर्णमासी के दिन, पौष मांस की पूर्णमासी के दिन, चतुर्दशी अमावस्या और प्रतिपदा के दिन तथा प्रत्येक उपवास के दिन मछली न मारी जाए और ना ही बेची जाए। इन सब दिनों में हाथियों के वन में तथा तालाबों में कोई भी दूसरे प्रकार के प्राणी न मारे जाएं। प्रत्येक पक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या या पूर्णिमा तथा पुष्ट और पुनर्वसु नक्षत्र में और प्रत्येक चार महीने के त्योहारों के दिन बैल बधिया न किया जाए तथा बकरा, भेड़ा, सुअर और इसी तरह के दूसरे प्राणियों को बधया नहीं किया जाए। पुण्य और पुनर्वसु नक्षत्र के दिन प्रत्येक चातुर्मास्य की पूर्णिमा के दिन और प्रत्येक चातुर्मास्य के शुक्ल पक्ष में घोड़े और बैल को न दागा जाए। राज्याभिषेक के बाद 26 वर्ष के अंदर मैंने 25 बार कारागार से लोगों को मुक्त किया है।" ऐसा था अशोक का विधान।

III

अब हम मनु पर विचार करेंगे। उस के कानूनों में मांसाहार के संबंध में निम्नलिखित व्यवस्था है:-

5.11. कच्चा मांस खाने वाले गिद्ध आदि और गांव में रहने वाले कुकुर, कबूतर आदि पक्षी का मांस न खाएं। जिसके नाम का निर्देश न किया गया हो ऐसे सुमधारी घोड़े, गधे आदि भी अभक्ष्य हैं। टिटिहरी पक्षी का मांस भी वर्जित है।

5.12. गौरेया, पारिया, पपीहा, हंस, चकवा, ग्राम कुक्कुट (मुर्गा) वल्लक, बत्तख, रज्जुवल, जलकाक, सुग्गा और मैना-इन पक्षियों का मांस न खाएं।

5.13. कठफोड़ों और जिनके बगुल झिल्ली से जुड़े हों वे जल मुर्गा, नख से विदीर्ण कर खाने वाला बाज आदि और पानी में डूबकर मछली खाने वाला पक्षी, वधस्थान का मांस और सूखा मांस खाना वर्जित है।

5.14. बगुला, बलाका, द्रोणकाक, खंजन, मछली खाने वाले जल जीव (मगर आदि) ग्राम्य शूकर और सब प्रकार की मछलियां न खाएं।

5.15. जो जिसका मांस खाता है वह उसका मांस खाने वाला कहलाता है। मछली सबका मांस खाती है, जो मछली खाता है वह सब मांसों का खाने वाला है। इसलिए मछली न खाएं।

5.16 पाटीन (कुआरा) और रोहित (रोहू) मछली हव्य कव्य के लिए विहित है। राजीव, सिंहतुण्ड और शल्क वाली सब मछलियां खाद्य हैं।

5.17 अकेले विचरने वाले और रहने वाले सर्पादि जीवों को भक्ष्यों में कहे गए वे पशु-पक्षी जो परिचित न हों उन्हें और पंचनख वाले वानरादि प्राणियों

को न खाएं।

5.18. पंचनखियों में सेह, साही, शल्यक, गोह, गेंडा, कछुआ और खरहा तथा एक ओर दांत वाले पशुओं में ऊंट को छोड़ कर बकरे आदि पशु भक्ष्य हैं ऐसा कहा गया है।

IV

पशुओं की हत्या के बारे में अशोक और मनु के जो विधान हैं वे यहां आ गए हैं। लेकिन हमारा विषय मुख्य रूप से गो-हत्या है। अशोक के निर्देशों का विवेचन करने पर प्रश्न उठता है कि क्या गो-हत्या निषिद्ध ठहराई गई थी? इस बारे में मतभेद प्रतीत होता है। श्री विसेंट स्मिथ का विचार है कि अशोक ने गोवध का निषेध नहीं किया था। अशोक के निर्देशों पर टिप्पणी करते हुए प्रोफेसर स्मिथ कहते हैं[1]:-

"यह बात ध्यान देने की है कि अशोक के निर्देशों में गो-हत्या का निषेध नहीं है। जो ऐसा लगता है कि यह गो-हत्या वैध रही थी।"

प्रोफेसर राधाकुमुद मुकर्जी, प्रोफेसर स्मिथ से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है[2] कि अशोक ने गो-हत्या अवश्य बंद कर दी थी। प्रो. मुकर्जी का आधार शिलालेख 5 का हत्या वर्जन वह उद्धरण है जो सभी चौपायों पर लागू था। उनका तर्क है कि यह विचार कि गो की हत्या की छूट मिल गई थी। स्तम्भ लेख में जो कुछ कहा गया है उसका यह ठीक अर्थ नहीं है। शिला लेख में जो कथन है वह विशेषता लिए हुए है। वह सभी चौपायों पर लागू नहीं होता। यह केवल उन चौपायों पर लागू होता है जो न तो किसी प्रकार उपयोग में आते हैं न खाए जाते हैं। गो को हम ऐसा चौपाया नहीं कह सकते जो न तो किसी प्रकार काम में आता हो और न खाया ही जाता हो। ऐसा लगता है कि प्रोफेसर स्मिथ का यह कथन ठीक है कि अशोक ने गो वध बंद नहीं किया था। प्रो. मुकर्जी यह कह कर जान छुड़ाना चाहते हैं कि अशोक के समय गो मांस नहीं खाया जाता था इसलिए उसकी निषेधात्मक आज्ञा गो पर भी लागू होती है। उनका कथन एकदम अनर्गल है। क्योंकि गो ऐसा पशु है जिसे सभी वर्ग के लोग खाते ही थे।

प्रो. मुकर्जी की तरह अशोक के शिलालेख के साथ खींचातानी करके यह अर्थ निकालने की कोई आवश्यकता नहीं कि उसने गो-हत्या कानून से बंद कर दी थी मानो ऐसा करना उसका विशेष कर्तव्य था। अशोक का गो से किसी तरह का कोई

---

1. स्मिथ, अशोक, पृ. 35
2. मुकर्जी, अशोक, पृ. 181, 184

खास सरोकार नहीं था और न इसे वह अपना कोई खास कर्तव्य ही समझता था कि गो को हत्या से बचाए। अशोक प्राणी मात्र पर, चाहे वह मनुष्य हो चाहे पशु हो, दया चाहता था।

वह मानता था कि जहां-जहां अनावश्यक रूप से पशु हत्या होती है उसे बंद कर दिया जाए। यही कारण है कि उसने यज्ञों के लिए पशु बलि[1] का निषेध किया, जो उसने आवश्यक समझा। उसने उन पशुओं के वध को निषिद्ध ठहराया जो किसी उपयोग में नहीं आते अथवा जो खाए नहीं जाते। ऐसा पशुओं का निरर्थक वध वास्तव में अनुचित है। अशोक ने विशेष रूप से गो वध के विरुद्ध कोई कानून नहीं बनाया। यदि हम बौद्ध दृष्टिकोण समझ लें तो इस बात को लेकर अशोक पर दोषारोपण नहीं किया जा सकता।

अब हम मनु को लेते हैं। उसने भी गो हत्या के विरुद्ध कोई कानून नहीं बनाया। उन्होंने तो विशेष अवसरों पर भी मांसाहार अनिवार्य ठहराया है।

तब फिर अब्राह्मण ने गो मांसाहार क्यों छोड़ दिया? उनके इस त्याग का कोई सुस्पष्ट और सहज कारण नहीं मालूम पड़ता है। लेकिन इसका कोई न कोई कारण तो होना ही चाहिए। जो कारण मुझे सूझता है वह यह है कि अब्राह्मण ने ब्राह्मण की नकल करने के प्रयत्न में गो मांस खाना छोड़ा यह एक नया विचार हो सकता है किंतु यह कोई असंभव बात नहीं। श्री गैब्रायल टार्दे नाम के फ्रांसीसी लेखक ने संस्कृति के बारे में लिखा है कि वह किसी निम्न स्तर के वर्ग विशेष में अपने से ऊंचे स्तर के वर्ग की संस्कृति का अनुसरण करने से फैलती है। यह नकल करना इतने धीरे-धीरे होता है और यह मशीन की तरह अपना काम इस तरह करता है जैसे कोई भी प्राकृतिक नियम। गैब्रायल टार्दे ने नकल करने के नियमों की चर्चा की। उसमें से एक यह है कि नीचे के वर्ग के लोग सदैव ऊपर के वर्ग के लोगों की नकल करते हैं। यह एक ऐसी सामान्य जानकारी की बात है कि शायद ही कोई आदमी इसके यथार्थ को अस्वीकार करे।

अब्राह्मणों में जो गो-पूजा का भाव उदय हुआ और उन्होंने जो गोमांस खाना छोड़ा, इसमें तनिक संदेह नहीं कि वह अपने से ऊंचे दर्जे के ब्राह्मणों की नकल करने की प्रकृति का ही परिणाम है। यह भी सत्य है कि ब्राह्मणों द्वारा गो-पूजा के पक्ष में बहुत प्रचार कार्य किया गया है। गायत्री पुराण एक उदाहरण है। लेकिन मूलतः यह नकल करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति का ही परिणाम है। हां अब इससे एक दूसरा प्रश्न उठता है—ब्राह्मणों ने गोमांस खाना क्यों छोड़ा?

---

1. देखें शक, एडिट-1

जिन लोगों की जन-आंदोलनों में रुचि है, उन्हें... केवल धार्मिक दृष्टिकोण अपनाना छोड़ देना चाहिए। उन्हें भारत के लोगों के प्रति सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टिकोण भी अपनाना होगा।

– डॉ. भीमराव अम्बेडकर

अध्याय 13

ब्राह्मण शाकाहारी क्यों बने?

यह स्पष्ट है कि अब्राह्मणों में एक क्रांति हुई। गो मांसाहार छोड़ देना एक क्रांति ही थी। लेकिन अब्राह्मणों में एक क्रांति हुई तो ब्राह्मणों में दोहरी क्रांति हुई। उन्होंने गोमांस खाना छोड़ा, यह एक क्रांति हुई। मांसाहार स्पर्श त्याग दूसरी क्रांति है।

इसमें तनिक संदेह नहीं है कि यह एक क्रांति थी क्योंकि जैसा पूर्व के अध्यायों में वर्णित किया गया है, एक समय था जब ब्राह्मण सबसे अधिक गो मांसाहारी थे। यद्यपि अब्राह्मण लोग भी मांस खा लेते थे किंतु उनको वह प्रतिदिन सहज सुलभ नहीं था। गो एक अमूल्य पशु था और अब्राह्मण लोग केवल भोजन के लिए गोहत्या करें यह उनके लिए बहुत कठिन था। वह खास-खास समयों पर ही ऐसा कर सकता था। उस समय जब या तो उसे उसका धार्मिक कर्तव्य या किसी देवता को प्रसन्न करने की व्यक्तिगत विवशता होती थी। लेकिन ब्राह्मण की बात दूसरी थी, वह पुरोहित था। कर्मकांड के उस युग में शायद ही कोई दिन ऐसा हो जब किसी न किसी यज्ञ के निमित्त गो वध न होता हो और जिसमें कोई न कोई अब्राह्मण किसी न किसी ब्राह्मण को न बुलाता हो। ब्राह्मण के लिए हर दिन गोमांसाहार का दिन था। इसलिए ब्राह्मण सबसे बड़े गोमांसाहारी थे। ब्राह्मणों का यज्ञ धर्म के नाम पर निरीह और मासूम पशुओं की हत्या के आयोजन के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता था। वह बड़े तामझाम के साथ होता था और अपनी गो मांस लालसा को छिपाए रखने के लिए उसे गूढ़ बनाने का प्रयत्न किया जाता था। इस रहस्यमय ठाठ बाठ की कुछ जानकारी पशु हत्या के संबंध में ऐतरेय ब्राह्मण में परिलक्षित है।

पशु की हत्या से पहले अत्यंत जटिल और विविध मंत्रों के साथ प्रारंभिक संस्कार किया जाता था। बलि की मुख्य बातों का आभास करा देना पर्याप्त है। बलि स्तंभ को ही यूप कहते हैं। उसी की स्थापना से यज्ञ आरंभ होता है। पशु की हत्या से

---

1. ऐतरेय II, पृ. 72-74

पहले पशु को इस यज्ञ स्तंभ से ही बांधते हैं। यूप की आवश्यकता बताने के अनन्तर ऐतरेय ब्राह्मण में इसका तात्पर्य दिया है:–

“यूप एक शस्त्र है। इसके सिर के आठ छोर होने चाहिएं। क्योंकि एक शस्त्र (लोहे के वल्लभ) के आठ कोने होते हैं। जब भी वह उससे किसी शत्रु या विरोधी पर प्रहार करता है तो उसे मार डालता है। यह शस्त्र जिसे अभिभूत करना हो उसे अभिभूत कर देता है। यूप एक शस्त्र है जो पशु विनाश के लिए सीधा खड़ा रहता है। इससे यज्ञकर्ता का शत्रु जो (यज्ञ में) उपस्थित हो सकता है उस यूप को देख कर संकट ग्रस्त हो जाता है।”

यूप के लिए लकड़ी यज्ञकर्ता के यज्ञ करने के उद्‌देश्य के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की चुनी जाती है। ऐतरेय ब्राह्मण का कथन है:–

“जो स्वर्ग चाहता है उसे अपनी यूप खादिर की लकड़ी से बनानी चाहिए क्योंकि देवताओं ने खादिर की लकड़ी के यूप से ही दिव्य लोक को जीता। उसी प्रकार यज्ञकर्ता खादिर की लकड़ी से बने हुए यूप से दिव्यलोक को जीतता है।”

“जो भोजन चाहता है और स्थूलता चाहता है उसे अपना यूप बेल (बिल्व) की लकड़ी से बनाना चाहिए। बेल के पेड़ पर प्रतिवर्ष फल लगते हैं। यह उर्वरता का प्रतीक है क्योंकि यह जड़ से शाखाओं तक (प्रतिवर्ष) आकार में बढ़ता रहता है। इसलिए यह मोटापे का प्रतीक है। जो यह जानता है और इसलिए अपना यूप बेल की लकड़ी का बनाता है उसके बच्चे और पशु मोटे होते हैं।”

“बेल की लकड़ी से बने यूप के बारे में इतना और कहना है जो बिल्व को बार-बार प्रकाश कहता है और ऐसा जानता है वह अपने स्वयं में प्रकाश बन जाता है और स्वयं में सबसे श्रेष्ठ।”

“जो सौंदर्य और पवित्र विद्या चाहता है उसे अपना यूप पलाश की लकड़ी का बनाना चाहिए क्योंकि ढाक सौंदर्य और पवित्र विद्या का वृक्ष है। जो यह जानता है और इसलिए अपना यूप पलाश की लकड़ी का बनाता है वह सुंदर हो जाता है और पवित्र विद्या प्राप्त करता है।”

पलाश की लकड़ी से बने यूप के बारे में इतना और कहा गया है कि पलाश सब वृक्षों का गर्भ है। इसीलिए वे उस पलाश के वृक्ष की बात करते हैं। जो यह जानता है उसकी सभी इच्छाएं चाहे किसी पेड़ से भी क्यों न हों, पूरी होती है।

उसके बाद यूप के अभिषेक का संस्कार होता है।[1]

---

[1] ऐतरेय ब्राह्मण (मार्टिन हग)-II, पृष्ठ 74-78

"अध्वर्यु कहता है हम यूप को अभिषेक कहते हैं। अपेक्षित मंत्र पढ़ो। होता मंत्र पढ़ता है अंजतित्वां अध्वरे (3, 8, 1,) अर्थात् हे वृक्ष! पुरोहित दिव्य मधु से तेरा स्वागत करते हैं। यदि तू यहां सीधा खड़ा है अथवा यदि तू अपनी माता (पृथ्वी) पर लेटा हुआ है तो हमें धन दे। "दिव्य मधु" पिघला हुआ मक्खन है जिससे पुरोहित यूप का अभिषेक करते हैं। दूसरे आधे मंत्र हमें दे आदि का अर्थ है "चाहे तुम खड़े हो चाहे लेटे हो हमें धन दो।"

"तब होता दोहराता है, जातो जायते सुदिनत्वे (3, 8, 5) अर्थात् उत्पत्ति के बाद वह (यूप) अपने जीवन के मध्यकाल में मरणशील मनुष्यों के यज्ञ के उपयोग में आता है। बुद्धिमान लोग उसे यूप (को) सजाने में संलग्न हैं। वह देवताओं के व्याख्यान पटु दूत की तरह अपना स्वर ऊंचा करता है कि देवता उसे सुन सकें। वह (यूप) जात अर्थात् उत्पन्न कहलाता है क्योंकि वह इस श्लोक के पहले चरण के उच्चारण से पैदा होता है। वर्धमान (शब्दों से) अर्थात् बढ़ना से वे उसे (यूप को) इस प्रकार बढ़ाते हैं। पुनन्ति (शब्द से) अर्थात् पवित्र करना, सजाना, वे उसे इस प्रकार पवित्र करते हैं। वह एक व्याख्यान पटु दूत शब्दों से देवताओं को यूप के अस्तित्व की सूचना देता है।"

"होता यत् स्तंभ अभिषेक के संस्कार को समाप्त करता है। उस समय वह पढ़ता है:– युवा सुवासा परिविता : (3, 8, 4) अर्थात् बंदनवार सज्जित यूप आ पहुंचा है वह उन सब वृक्षों से जो कभी भी उत्पन्न हुए हों बढ़ कर बुद्धिमान पुरोहित अपने मन के सुव्यवस्थित विचारों के मंत्र पाठ द्वारा उसे उठाते हैं। पट्टी से (सजा हुआ) यूप जीवनदायिनी वायु (आत्मा) है जो शरीर के अंगों द्वारा ढका है। वह श्रेष्ठ है इत्यादि शब्दों से उसका अर्थ है कि वह (यूप) बढ़िया होता जा रहा है (अधिक श्रेष्ठ सुंदर) इस मंत्र के बल से।"

अगला संस्कार आग से यज्ञ स्तंभ की परिक्रमा करना है। इस संबंध में ऐतरेय ब्राह्मण का कथन* है:–

"जब (पशु) के चारों ओर आग घुमाई जाती है तो अध्वर्यु होता से कहता है–अपना मंत्र पाठ करो। तब होता को संबोधित करके गायत्री छंद में रचे गए तीन मंत्रों का पाठ करता है। अग्नि होता वा अध्वेरे (4, 15, 1-3) अर्थात् (1) हमारा पुरोहित, अग्नि, एक घोड़े की तरह घुमाया जा रहा है। यह देवताओं में यज्ञ का देवता है। (2) एक रथी की तरह अग्नि यज्ञ के पास से तीन बार गुजरता है। वह देवताओं के पास आहुति ले जाता है। (3) भोजन का अधिष्ठाता अग्नि ऋषि आहुति के गिर्द घूमा, यह यज्ञकर्ता को धन देता है।"

---

* ऐतरेय ब्राह्मण (मार्टिन हग) II, पृ. 84-86

"जब पशु के चहु ओर अग्नि लेकर घूमा जाता है तो उसे अपने देवता और अपने छन्द के द्वारा यशस्वी बनाता है। वह एक घोड़े की तरह ले जाया जाता है का अर्थ है कि वह उसे घुमाते हैं मानो वह कोई घोड़ा हो, एक रथी की तरह अग्नि तीन बार यज्ञ के पास से गुजरती है का अर्थ है कि वह एक रथी की तरह (शीघ्रता) से यज्ञ के चारों ओर वह वाजपति (भोजन अधिष्ठाता) कहलाता है, क्योंकि वह तरह-तरह के भोजनों का अधिष्ठाता है।"

"अध्वर्यु कहता है: हे होता! देवताओं को आहुति देने के लिए अतिरिक्त आज्ञा दो।''

तब होतृ (बधिकों को) आदेश देता है– "हे दिव्य बधिकों। (अपना कार्य) आरंभ करो और जो मानवीय बधिक हो वह भी। इसका अर्थ है कि वह सभी बधिकों को चाहे वे देवताओं में हों चाहे मानवों में आज्ञा देता है कि (आरंभ करो)।"

"वध करने के शस्त्र यहां लाओ, तुम लोग जो यज्ञ के दोनों स्वामियों की ओर से यज्ञ का आदेश दे रहे हो।"

पशु आहुति है, यज्ञकर्ता आहुति का स्वामी है। इस प्रकार होतृ यज्ञ कर्ता को उसकी अपनी आहुति से यशस्वी बनाता है। इसलिए वे सत्य कहते हैं–जिस देवता के लिए भी पशु का वध किया जाता है वही उसका स्वामी है। यदि एक ही देवता के लिए पशु की बलि दी जाती है तो पुरोहित को कहना चाहिए मेधपतये अर्थात! यज्ञ के स्वामी के लिए (एक वचन), यदि देवताओं के लिए तो उसे द्विवचन का प्रयोग करना चाहिए यज्ञ के दोनों स्वामियों के लिए। यदि अनेक देवताओं के लिए है तो उसे बहुवचन का प्रयोग करना चाहिए यज्ञ के स्वामियों के लिए। यही निश्चित धर्म है।"

तुम उसके लिए अग्नि लाओ। जब पशु को वध स्थान की ओर ले जाया गया, तो उसने अपने सामने मृत्यु को देखा। वह देवताओं के पास नहीं जाना चाहता था, तब देवताओं ने उससे कहा–आओ हम तुम्हें स्वर्ग पहुंचाएंगे। पशु मान गया और बोला : तुम में से एक को मेरे आगे-आगे चलना चाहिए। देवताओं ने स्वीकार किया। तब अग्नि पशु के आगे-आगे चला और पशु उसके पीछे-पीछे। इसी से वे कहते हैं कि हर पशु पर अग्नि का अधिकार है, क्योंकि पशु अग्नि के पीछे-पीछे चला। इसीलिए वे पशु के आगे-आगे अग्नि ले जाते हैं।"

''पवित्र दूब बिखेर दो। पशु वनस्पति पर ही जीता है। होता इस प्रकार पशु को उसकी समस्त आत्मा देता है। (क्योंकि वनस्पति उसका भाग समझी जाती है)।"

पशु को चारों ओर आग घुमाने के बाद यज्ञ के लिए पुरोहित को दिया जाता है। यज्ञ के लिए पशु का समर्पण कौन करे? इस विषय में ऐतरेय ब्राह्मण[1] की आज्ञा

है:–

"मां, पिता, भाई, बहन, मित्र और साथियों को चाहिए कि वे वध करने के लिए पशु का समर्पण करें। (जिस समय ये शब्द कहे जाते हैं वे उस पशु को पकड़ लेते हैं जिसके बारे में यह माना जाता है कि वह माता-पिता आदि के द्वारा सर्वथा परित्यक्त है)।"

इस निर्देश को पढ़ कर आश्चर्य होता है कि लगभग हर किसी के लिए इसकी क्या आवश्यकता है कि वह पशु को यज्ञ के लिए समर्पित करने के संस्कार में हिस्सा ले। कारण स्पष्ट है। यज्ञ में हिस्सा लेने के अधिकारी पुरोहितों की कुल संख्या सत्रह थी। स्वाभाविक तौर पर वे मृत पशु की पूरी की पूरी लाश अपने ही लिए[2] ले लेना चाहते थे।

वास्तव में यदि उन्हें सारी देह अपने ही लिए न मिले तो वे सत्रह पुरोहितों में कुछ ठीक-ठीक बांट भी नहीं सकते थे। विधानानुसार ब्राह्मण उस पशु पर किसी प्रकार का अधिकार तब तक नहीं जता सकते थे जब तक हर आदमी पशु के मांस के अपने अधिकार को सर्वथा छोड़ न दे। इसीलिए उक्त निर्देश में जो आदमी पशु के साथ आया हो उसे भी अपना अधिकार छोड़ देने का आदेश है।

अब पशु का वध करने का विधि-विधान आता है। ऐतरेय ब्राह्मण पशु की हत्या करने के विधि-विधान का ब्यौरा इस प्रकार[3] देते हैं:-

"इसके पैर उत्तर की ओर करो, उसकी आंखें सूर्य की ओर, उसकी प्राण वायु, इसकी श्रवण शक्ति दिशाओं की ओर, इसका शरीर पृथ्वी को सौंप दो। इस प्रकार (होतृ) होता इसे लोकों के साथ जोड़ देता है।"

"सारी चमड़ी बिना काटे उतार दो। नाभि काटने से पहले ओझड़ी को चीर दो (इसका मुंह बंद करके) इसका दम घोट दो और इसकी सांस अंदर ही रोक दो। इस प्रकार वह (होतृ) होता पशुओं में श्वास डालता है।"

"इसकी छाती का एक टुकड़ा, बाज की शक्ल का, बाजुओं के दो टुकड़े कुल्हाड़ी की शक्ल के, अगले पांव के दो टुकड़े धान की बालों के शक्ल के, कंधों के दो टुकड़े दो काइयों की शक्ल के, कमर के नीचे का हिस्सा अटूट रहे, जांघ के दो टुकड़े ढाल की शक्ल के, दोनों घुटनों के दो टुकड़े पत्तों की शक्ल के, इसकी 26 पसलियां क्रमशः निकाल ली जाएं। इसके प्रत्येक अंग को सुरक्षित रखा जाए। इस

---

1. मार्टिन हग II, पृ. 86
2. दरअसल पूरा शव ब्राह्मण ले जाते थे। यजमान और उसकी पत्नी को एक-एक टांग ही दी जाती थी।
3. मार्टिन हग II, पृ. 86-87

प्रकार वह उसके सारे अंगों से लाभ पाता है।"

यज्ञ के लिए पशुओं की हत्या करने के संबंध में दो संस्कार बच गए। एक है ब्राह्मण पुरोहित को, जिसने बधिक का काम किया, हत्या के पाप से मुक्त करने का संस्कार। सिद्धांत रूप में वे हत्यारे ठहरते हैं क्योंकि पशु केवल यज्ञकर्ता का स्थ. ानापन्न ही है। उन्हें हत्या के परिणाम से बचाने के लिए ऐतरेय ब्राह्मण ने होतृ होता को निम्नलिखित आज्ञा दी[1] है:-

"ओझड़ी को न काटो, जो उल्लू की शक्ल की होती है। और हे वध करने वालो! तुम्हारे बच्चों अथवा तुम्हारी संतान में भी कोई ऐसा न हो जो उसे काट दे।'' इन शब्दों को कह कर वह देवताओं और मनुष्यों दोनों के मध्य में जो हत्यारे हैं उनको देता है।

तब होतृ होता तीन बार कहता है हे अध्रिगु, और हे अन्य लोगों पशु का वध करो, इसे अच्छी तरह करो, इसका वध करो, हे अध्रिगु पशु की हत्या हो चुकने पर उसे तीन बार कहना चाहिए इस हत्या का दुष्परिणाम हमसे दूर करो, क्योंकि देवताओं में अध्रिगु है जो (पशु को) चुप कराता है और अध्रिगु 'दूर दूर' कहे, जो उसे नीचे गिराता है। यह शब्द कह कर पशु को उन्हें सौंप देता है, जो उसका मुंह बंद करके उसे चुप कराते हैं, और उन्हें जो उसका वध कर डालते हैं।

तब होता जाप करता है। बधिकों, तुम्हारा पुण्य यहां हमारे पास रहे, तुम्हारा पाप अन्यत्र चला जाए। होता उस कथन से पशु वध की आज्ञा देता है। क्योंकि अग्नि जब देवताओं का क्षेत्र था तो उसने भी इन्हीं शब्दों में (पशु के) वध की आज्ञा दी थी।

अंत में जप से होता उन सब को जो पशु का स्वास बंद करते हैं अथवा जो उसका वध करते हैं, उस पाप के दुष्परिणाम से मुक्त करता है जो उनके किसी टुकड़े को अतिशीघ्रता से काटने, किसी टुकड़े को अति विलम्ब से काटने, किसी टुकड़े को बहुत बड़ा काटने और किसी टुकड़े को बहुत छोटा काटने के परिणामस्वरूप हो गया हो। होता इसका आनंद लेते हुए अपने आप को तमाम पापों से मुक्त करता है और पूरी आयु प्राप्त करता है और इससे यज्ञकर्ता भी अपनी संपूर्ण आयु प्राप्त करता है। जिसको यह ज्ञान है वह अपनी पूरी आयु प्राप्त करता है।

इससे आगे ऐतरेय ब्राह्मण मृत पशु के शरीर के भाग को ठिकाने लगाने के प्रश्न पर विचार करता है। उसका निदेश है:-

---

[1] मार्टिन हग II, पृ. 89-90

"इसका गोबर छिपाने के लिए जमीन में एक गड्ढा खोदो। गोबर वनस्पति से बनता है, क्योंकि पृथ्वी वनस्पति का स्थान है। इसलिए होता अंत में गोबर को उसके उचित स्थान पर रखता है। प्रेतात्माओं को रक्त दो, क्योंकि एक बार देवताओं ने प्रेतात्माओं को हविर्यज्ञ पूर्णिमा तथा प्रतिपदा के दिन की बलि का उनका हिस्सा उन्हें न दे भूसी और छोटा धान मात्र दिया और फिर उन्हें सोम तथा पशु मांस का निकाल कर रक्त दिया। इसलिए होता इस मंत्र का जाप करता है– प्रेतात्माओं को छोड़ दो। उनका यह हिस्सा देकर फिर उन्हें यज्ञ में से कोई और चीज लेने से वंचित कर दिया जाता है। वे कहते हैं दुरात्माओं को यज्ञ में याद नहीं करना चाहिए, राक्षस, असुर, दुरात्मा कोई भी हों क्योंकि यज्ञ बिना विघ्न बाधा के होना चाहिए। लेकिन दूसरों का मत है कि उन्हें याद करना चाहिए क्योंकि यदि कोई किसी को उसके हिस्से से वंचित करता है तो जिसे वह वंचित करेगा वह उसे कष्ट देगा। यदि वह अपने दंड से बच गया तो उसके पुत्र को और यदि वह भी बच गया तो उसके पौत्र को कष्ट भोगना पड़ेगा। इस प्रकार जो कष्ट तुम्हें मिलता वह कष्ट तुम्हारे पुत्र या पौत्र को मिलता है।"

यदि होता संबोधन करे तो उसे मन्द स्वर में करना चाहिए क्योंकि मन्द स्वर और प्रेतात्माएं दोनों ही छिपी सी रहती हैं। यदि वह उस स्वर में बोलता है तो यह प्रेतात्माओं की आवाज में मिलता है और वह राक्षस स्वर (एक भयानक आवाज) में बोलने लग सकता है। जिस वाणी में क्रोधी तथा शराबी आदमी बोलते हैं वह राक्षसों की बोली है। जिसे यह ज्ञान है वह न स्वयं क्रोधी होगा न उसकी संतान वैसी होगी।

तब अंतिम संस्कार बाकी रह जाता है–पशु के शरीर के अंग देवी देवताओं को समर्पित करने का संस्कार है। यह मनोत[1] कहलाता है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार:–

अध्वर्यु होता से कहता है– मनोत के लिए काटे गए यज्ञ के पशु के अंगों को देवताओं को समर्पित करने के उपर्युक्त मंत्र कहो। वह तब इस मंत्र को दोहराता है– 'हे अग्नि तुम प्रथम मनोत[2] हो।'

अब पशु के मास के बंटवारे का प्रश्न शेष रह गया। इस विषय पर ऐतरेय ब्राह्मण का निर्णय इस प्रकार[3] है:–

अब बलि के पशु के भिन्न-भिन्न अंगों को पुरोहितों में बांटे जाने का प्रश्न उप. स्थित होता है। हम इसका वर्णन करेंगे। जबड़े की दोनों हड्डियों और जिह्वा प्रस्तोता को दी जानी चाहिए। बाज की आकृति में छाती उद्‌गाता को, गर्दन और ताल प्रतिहर्ता

---

1. ऐतरेय ब्राह्मण (मार्टिन हग) खण्ड-2, पृ. 93
2. मनोत उस देवता का नाम है जिसे बलि समर्पित होती है।
3. ऐतरेय ब्राह्मण (मार्टिन हग) खण्ड-2, पृष्ठ 441-42

को, कमर के नीचे का दाहिनी ओर का हिस्सा होता को, बायां ब्रह्मा को, दाईं जांघ मैत्रवरण को, बाईं ब्राह्मणाच्छसों को, कंधे के साथ की दाईं ओर से अध्वर्यु को, बाईं मंत्रोच्चारण में साथ देने वालों उपमाताओं को, बायां कंधा प्रतिप्रस्तर को, दाएं बाजू का निचला हिस्सा नेष्टा को, बाएं बाजू का निचला हिस्सा पौत्र को, दाहिनी जांघ का ऊपर का भाग आच्छावक को, बाईं जांघ का ऊपर का हिस्सा अग्निघर को, दाएं बाजू का ऊपर का हिस्सा आत्रेय को, बाएं बाजू का ऊपर का हिस्सा सदस्य को, कमर की हड्‌डी और अंडकोष यज्ञ कराने वाले गृहस्थ को। दायां पांव भोज देने वाले गृहपत को, बायां पांव भोजन देने वाले गृहपति की भार्या को, ऊपर का होठ गृहपति और उसकी भार्या के समानाधिकार में है, जिसका बंटवारा गृहपति करेगा। पशु की पूंछ वे भार्याओं को देते हैं किंतु यह उन्हें किसी ब्राह्मण को ही देनी चाहिए। गर्दन पर मणिक और तीन कीकस ग्रावात्तुत को, तीनों कीकस और पीछे के मांसल हिस्से का अर्धांश वैकर्स उन्मेता को, गर्दन पर के मांसल हिस्से क्लोम को, उसका आधा हिस्सा वध करने वाले को। यदि वध करने वाला स्वयं ब्राह्मण न हो तो किसी ब्राह्मण को दे दें। सिर सुब्रहमण्य को देना चाहिए जो कल सोम यज्ञ के समय (स्वः सुत्या) बोला, सोम यज्ञ में यज्ञ की बलि बने पशु का वह हिस्सा जो यज्ञ भोज का है वह सब पुरोहितों का है, केवल होता के लिए वह ऐच्छिक है।

बलि के पशु के इन अंगों की संख्या 36 है। जिन श्लोकों से यज्ञ होता है प्रत्येक भाग उसके एक चरण का प्रतीक है। बृहती छंद में 36 शब्द खंड होते हैं और दिव्य लोक बृहती की प्रकृति के हैं। इस प्रकार पशु के 36 हिस्से करके वे इस लोक तथा स्वर्ग में जीवन लाभ करते हैं। और इह लोक और परलोक दोनों में प्रतिष्ठित होकर वे वहां विचरते हैं।

जो उपरोक्त रीति से पशु के मांस का बंटवारा करते हैं उनके लिए यह स्वर्ग सोपान बन जाता है। लेकिन जो इससे उलटा विभाजन करते हैं वे गुंडे और शरारती हैं जो केवल अपनी मांसाहार की तृष्णा के लिए पशु की बलि देते हैं। बलि के पशु का यह विभाग श्रुत के पुत्र देवभाग का आविष्कार है। जब वह इस जीवन में जी रहा था तो उसने इस रहस्य को किसी को भी नहीं सौंपा। किंतु किसी अलौकिक देव दूत ने वभु के पुत्र गिरिजा को सब समाचार कह दिया। उसके समय से पुरुष इसका अध्ययन करते हैं।

ऐतरेय ब्राह्मण में जो कुछ कहा गया है उससे दो बातें असंदिग्ध तौर पर स्पष्ट होती हैं। एक तो यह कि बलि के पशु के सारे मांस को ब्राह्मण ही ले लेते हैं। एक जरा से टुकड़े के अतिरिक्त वे यज्ञ कराने वाले गृहस्थ को भी कुछ न लेने देते थे।

दूसरी बात यह है कि पशुओं का वध करने के लिए ब्राह्मण स्वयं कसाई का काम करते थे। सिद्धांत की दृष्टि से यज्ञ में जिस पशु की बलि दी गई है ब्राह्मणों को उसका मांस नहीं खाना चाहिए। यज्ञ का आधारभूत सिद्धांत है कि मानव देवताओं के प्रति अपने आपको बलिदान करता है। वह अपनी जान बचाने के लिए ही अपने बजाय पशु की बलि देता है। इसका यह आशय हुआ कि जो पशु का मांस खाता है वह आदमी का ही मांस खाता है, क्योंकि यहां पशु आदमी का ही स्थानापन्न है यह मत ब्राह्मणों के स्वार्थ के लिए बड़ा घातक था। ब्राह्मण बलि के पशु का सारा मांस आप ही हड़पना चाहते थे। ऐतरेय ब्राह्मण ने जब देखा कि इस मत को स्वीकार करने से ब्राह्मणों के हाथ से बलि के पशु के मांस के निकल जाने की आशंका है तो उसने प्रयत्नपूर्वक इस मत को सीधे-सीधे अस्वीकार करके उसकी व्याख्या[1] करने का प्रयत्न किया है।

"जो व्यक्ति यज्ञ के रहस्यों में दीक्षित होता है वह अपने आपको सब देवताओं के प्रति बलिदान कर देता है। अग्नि सब देवताओं का प्रतिनिधि है और सब देवताओं का प्रतिनिधि सोम है। जब वह यज्ञकर्ता पशु को अग्नि सोम की बलि चढ़ाता है तो वह अपने आपको सभी देवताओं के प्रति बलिदान होने से मुक्त कर देता है।"

कहने वाले कहते हैं, अग्नि सोम को बलि दिए गए पशु का मांस न खाओ, जो कोई इस पशु का मांस खाता है वह मानव का मांस खाता है क्योंकि यज्ञकर्ता पशु की बलि चढ़ा कर अपने आपको बलिदान होने से बचाता है। लेकिन इस मत की ओर ध्यान देना आवश्यक है।

इन बातों के रहते, अब यह सिद्ध करने के लिए किसी और प्रमाण की आवश्यकता नहीं कि ब्राह्मण न केवल गोमांसाहारी थे अपितु कसाई भी थे।

तब ब्राह्मणों ने पैंतरा क्यों बदला? हम उनके पैंतरा बदलने की बात के दो हिस्से करते हैं। पहला उन्होंने गोमांसाहार क्यों छोड़ दिया?

II

जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है अशोक ने गोहत्या को कभी कानून से बंद नहीं किया था। यदि बंद किया भी था, तो एक बौद्ध सम्राट द्वारा बनाए गए कानून को ब्राह्मणों ने कभी नहीं माना है।

क्या मनु ने गोहत्या का निषेध किया? यदि उसने किया तो वह ब्राह्मणों के लिए

---

[1] ऐतरेय ब्राह्मण (हग) II, पृ. 80

मान्य होगा और ब्राह्मणों में इस परिवर्तन की संतोषजनक व्यवस्था भी समझी जा सकती है। मनुस्मृति में निम्न श्लोक मिलते हैं:–

5.46. जो प्राणियों को बांधने, मारने का क्लेश देने की इच्छा नहीं करता वह सब जीवों का हित चाहने वाला अत्यंत सुख पाता है।

5.47. जो किसी प्राणी को दुख नहीं देता, वह जिस धर्म को मन से चाहता है, जो कर्म करता है जिस पदार्थ पर ध्यान लगाता है वह उसे अनायास ही प्राप्त करता है।

5.48. प्राणियों का हिंसा किए बिना कभी मांस उत्पन्न नहीं हो सकता पशुओं का वध करना स्वर्ग का साधन नहीं है। अतः मांस खाना छोड़ देना चाहिए।

5.49. मांस का उत्पत्ति और प्राणियों के वध और बंधन (निर्दयता) होती है। इस बात पर अच्छी तरह विचार कर सब प्रकार के मांस भक्षण को त्याग देना चाहिए।

यदि इन श्लोकों को ठोस निषेध आज्ञाएं स्वीकार कर लें तो इनसे ही इस बात पर पर्याप्त व्याख्या हो जाती है कि ब्राह्मण मांसाहार छोड़कर शाकाहारी क्यों बन गए? लेकिन इन श्लोकों को कानून के रूप में निर्णायक निषेध स्वीकार करना असंभव है। या तो ये केवल प्रेरणाएं हैं अथवा प्रक्षेप हैं जो ब्राह्मणों को शाकाहारी बन जाने के बाद उनके कृत्य की प्रशंसा में बाद में जोड़ दिए गए। यह दूसरी बात ही ठीक है क्योंकि मनुस्मृति के इस पांचवे अध्याय में ही आने वाले दूसरे श्लोकों से सिद्ध होता है–

5.28. प्रजापति ब्रह्मा ने यह सब जीव का खाद्य ही कल्पित किया है। स्थावर (अन्न, फल आदि) और जंगम पशु, पक्षी आदि सब जीव–जीवों के ही भोजन हैं।

5.29. चर–जीवों का अन्न (अचर, तृण आदि) हैं, दाढ़ वालों (व्याघ्र आदि) का बिना दाढ़ के जीव (हिरण आदि) हैं। हाथ वालों (मनुष्य) का अन्न बिना हाथ के जीव (मछली आदि) हैं, और शेरों (सिंह आदि) का भक्ष्य भीरू (जीव) हैं।

5.30. खाने वाला जीव खाने योग्य प्राणियों को प्रतिदिन खाकर भी दोष का भ. ागी नहीं होता, क्योंकि ब्रह्मा ने ही खाद्य और खाने वाले दोनों का निर्माण किया है।

5.56. मांस खाने, मद्यपान करने और मैथुन करने में दोष नहीं है, क्योंकि यह जीवों की प्रवृत्ति है, परंतु उससे निवृत्त होना महाफलदायी है।"

2.27. "मंत्रों द्वारा पवित्र किया मांस खाना चाहिए। ब्राह्मणों को शास्त्रोक्त विधि

से मांस खाना चाहिए और प्राणों पर संकट आ पड़ने पर मांस अवश्य खाना चाहिए।"

5.31. "यज्ञ के निमित्त मांस भक्षण को दैव विधि कहा गया है। इसके विरुद्ध मांस भक्षण राक्षसी वृत्ति है।"

5.32. "खरीद कर या स्वयं कहीं से लाकर या स्वयं मारकर अथवा किसी का दिया हुआ मांस देवताओं और पितरों को अर्पित कर खाने वाला दोषी नहीं होता।"

5.42. "वेद के तत्व को जानने वाला द्विज इन पूर्वोक्त विधि कर्मों से पशु वध करता हुआ स्वयं को और पशु को उत्तम गति प्राप्त करता है।"

5.39. "स्वयंभू ब्रह्मा ने यज्ञ के लिए और सब यज्ञों की समृद्धि के लिए पशुओं को स्वयं बनाया है, इसलिए यज्ञ में पशु वध को वध नहीं कहा जाता।"

5.40. "औषधियां, पशु, वृक्ष, कछुए आदि और पक्षी ये सब यज्ञ के निमित्त मारे जाने पर फिर उत्तम योनि में जन्म ग्रहण करते हैं।"

मनु इससे आगे जाते हैं और मांसाहार अनिवार्य ठहराते हैं। निम्नलिखित श्लोक ध्यान देने योग्य है:–

5.35. "यथाविधि नियुक्ति होने पर श्राद्ध और मधुपर्क में जो मनुष्य मांस नहीं खाता वह मरने के अनन्तर इक्कीस जन्म तक पशु होता है।"

स्पष्ट है कि मनु ने मांसाहार का निषेध नहीं किया। मनु ने गोहत्या का निषेध नहीं किया। यह मनु से ही सिद्ध है। पहली तो यह बात है कि मनुस्मृति में गो का उल्लेख केवल उन निम्नलिखित नियमों की सूची में मिलता है जो मनु के अनुसार स्नातकों के लिए मान्य होने चाहिएं।

1. गो का सूंघा हुआ भोजन एक स्नातक के लिए निषिद्ध है।[1]
2. जिस रस्सी में बछड़ा बंधा हुआ हो उसे लांघना एक स्नातक के लिए निषिद्ध है।[2]
3. गो–ब्रज (गोशाला) में लघु शंका करना स्नातक के लिए निषिद्ध है।[3]
4. गो की ओर मुंह करके मल–मूत्र विसर्जन करना स्नातक के लिए निषिद्ध है।[4]

---

[1] मनु. 4. 209

[2] मनु. 4. 38

[3] मनु. 4. 45

[4] मनु. 4. 48

5. गो-व्रज (गोशाला) में प्रविष्ट होने पर स्नातक को चाहिए कि अपना दायां हाथ नंगा कर ले।[1]
6. यदि कोई गो अपने बछड़े को दूध पिला रही हो तो उसमें बाधा डालना अथवा किसी को उसकी सूचना देना स्नातक के लिए निषिद्ध है।[2]
7. गो पर चढ़ना स्नातक के लिए निषिद्ध है।[3]
8. गो की हिंसा करना अर्थात् उसे दुख देना स्नातक के लिए निषिद्ध है।[4]
9. जूठे मुंह गो को स्पर्श करना स्नातक के लिए निषिद्ध है।[5]

इन उल्लेखों से सिद्ध होता है कि मनु गो को पवित्र पशु नहीं मानते थे। दूसरी ओर वह उसे अपवित्र पशु मानते थे जिसके स्पर्श से संस्कार-जन्य अपवित्रता होती थी।

मनुस्मृति में ऐसे श्लोक हैं जिनसे सिद्ध होता है कि मनु ने गोमांस भक्षण का निषेध नहीं किया था। इस संबंध में तीसरे अध्याय के तीसरे श्लोक का उल्लेख किया जा सकता है। यह इस प्रकार है:-

"अपने धर्म से प्रसिद्ध, पिता ब्रह्मदाए को प्राप्त किए हुए, माला पहने हुए तथा श्रेष्ठ आसन पर बैठे ब्रह्मचारी की पूजा पिता या आचार्य गोदुग्ध के मधुपर्क से करे।"

प्रश्न उठता है कि मनु एक स्नातक को गो देने की सिफारिश क्यों करते हैं? स्पष्ट ही है जिससे वह मधुपर्क बना सके। यदि ऐसा हो तो इसका यही अर्थ है कि मनु को यह बात ज्ञात थी कि ब्राह्मण गो-मांस का भक्षण करते हैं और यह उसे मना नहीं करते थे।

दूसरा उल्लेख उस चर्चा का है जो मनु ने पशुओं के खाद्य और अखाद्य मांस के बारे में की है। अध्याय 5 के मंत्र 18 में मनु का कथन है:-

पंचनखियों में सेह, साही, गोह, गैंडा, कछुआ, खरहा तथा एक ओर दांत वाले पशुओं में ऊंट को छोड़कर बकरे आदि पशु भक्ष्य हैं- ऐसा कहा है।

इस श्लोक में मनु ने ऐसे घरेलू पशुओं, जिनके एक ही जबड़े में दांत होते हैं, उनमें ऊंट ही नहीं गो के मांस खाने की भी अनुमति देता है किंतु यह बात ध्यान

---

[1] मनु. 4. 58
[2] मनु. 4. 59
[3] मनु. 4. 70
[4] मनु. 4. 162
[5] मनु. 4. 142

देने की है कि मनु गो को अपवाद स्वरूप नहीं स्वीकार करते। उसका स्पष्ट अर्थ है कि मनु को गो मांसाहार में कोई आपत्ति नहीं थी।

मनु ने गो हत्या को अपराध नहीं ठहराया। उसकी दृष्टि में पापकर्म दो प्रकार के हैं:–

(1) महापातक (2) उपपातक

महा पातकों में से कुछ ये हैं:–

11.54. ब्रह्म-हत्या, मद्यपान, चोरी, गुरुपत्नीगमन– ये (चारों) महापातक कहे गए हैं और इनका संसर्ग भी (महापातक) है।

उपपातक अर्थात् मामूली अपराधों में से कुछ ये हैं:–

11.59. गोवध, जाति और कर्म से दूषित मनुष्यों से यज्ञ कराना, परस्त्रीगमन, अपने को बेचना, गुरु, माता, पिता की सेवा का त्याग, स्वाध्याय का त्याग, स्मार्त अग्नि का त्याग और पुत्र के भरण-पोषण का त्याग।

इससे यह स्पष्ट है कि मनु की दृष्टि में गो हत्या केवल एक मामूली पाप था 'उपपातक'। यह निंदनीय तभी था जब गो की हत्या बिना किसी उचित तथा पर्याप्त कारण के हो। और यदि ऐसा न हो तो यह कोई बहुत घृणित कर्म नहीं था। याज्ञवल्क्य[1] का मत भी ऐसा ही था।

इस बात से यही सिद्ध होता है कि ब्राह्मण पीढ़ी दर पीढ़ी गोमांसाहारी बने रहे। उन्होंने गोमांसाहार क्यों छोड़ दिया? वे एक दम दूसरी सीमा पर चले गए। उन्होंने गोमांस ही नहीं मांस खाना भी छोड़ दिया और शाकाहारी बन गए। ये एक साथ दो क्रांतियां हो गईं। जैसा दिखाया गया है उन्होंने यह अपने दैवी स्मृतिकार मनु की शिक्षा के कारण नहीं किया गया है। ब्राह्मणों ने ऐसा क्यों किया? क्या यह किसी सिद्धांत के कारण अथवा किसी अभिप्रेत समरनीति के तहत ऐसा हुआ?

इस प्रश्न के दो उत्तर हैं। एक उत्तर तो यह है कि गो की पूजा उस अद्वैत दर्शन का परिणाम है जिसकी शिक्षा है कि समस्त विश्व में ब्रह्म व्याप्त है और इसलिए सारा जीवन चाहे वह मनुष्य का हो, चाहे पशु का हो, पवित्र है। स्पष्ट ही है कि यह व्याख्या सन्तोषजनक नहीं है। पहले तो इसका वास्तविकता से कोई मेल नहीं। वेदांत सूत्र जो ब्रह्म की एकता का उपदेश देते हैं, यज्ञों के लिए पशु हत्या को वर्जित नहीं करते। यह दूसरे अध्याय के 1.28वें सूत्र से स्पष्ट है। दूसरे यदि यह परिवर्तन वेदांत के आदेश को आचरण में उतारने का परिणाम है तो फिर गो तक क्यों सीमित है? यह दूसरे सभी पशुओं पर भी लागू होना चाहिए था।

---

[1] याज्ञवल्क्य, III 227 और III 234

दूसरी व्याख्या[1] पहली की अपेक्षा अधिक बेतुकी है। उसके अनुसार ब्राह्मण के जीवन के इस परिवर्तन का कारण आत्म परिवर्तन का सिद्धांत है। इस व्याख्या का भी वास्तविकता से कोई मेल नहीं। वृहदारण्यक उपनिषद में आत्मा के पुनर्जन्म ग्रहण करने के सिद्धांत का प्रतिपादन है, तो भी उसका कहना है यदि मनुष्य यह चाहता है कि उसे मेधावी पुत्र उत्पनन हो तो वृषभ या बैल के मांस के साथ भात और घी मिला कर खाना चाहिए। फिर इसका भी क्या कारण है कि उपनिषदों में मनु के समय अर्थात् लगभग 400 वर्ष बाद तक ब्राह्मणों के आचरण पर इस सिद्धांत का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। तीसरे यदि आत्मा के पुनर्जन्म के सिद्धांत के कारण ब्राह्मण शाकाहारी बने तो अब्राह्मण भी क्यों नहीं बने?

मेरी दृष्टि में यह ब्राह्मणों के चातुर्य का एक अंग है कि वे गोमांसाहारी न रह कर गोपूजक बन गए। इस गोपूजा के रहस्य का मूल बौद्धों और ब्राह्मणों के संघर्ष में तथा उपायों में खोजना होगा जो ब्राह्मणों ने बौद्धों से बाजी मार ले जाने के लिए किए। बौद्धों और ब्राह्मणों में तू डाल-डाल मैं पात-पात की होड़ भारतीय इतिहास की एक निर्णायक घटना है। इस वास्तविकता को अंगीकार किए बिना हिंदू धर्म के कुछ अंगों की व्याख्या हो ही नहीं सकती। दुर्भाग्यवश भारतीय इतिहास के विद्यार्थियों की दृष्टि से इस बौद्ध-ब्राह्मण संघर्ष का महत्त्व एकदम परोक्ष रहा है। वे जानते हैं कि ब्राह्मणवाद नाम की चीज रही है लेकिन वे इस बात से एकदम अपरिचित प्रतीत होते हैं कि ये मत लगभग 400 वर्ष तक एक दूसरे पर बाजी मार ले जाने के लिए संघर्ष करते रहे और भारतीय धर्म, समाज तथा राजनीति पर उनके इस संघर्ष की अमिट छाप विद्यमान है।

यहां सारे संघर्ष की कथा का वर्णन करने के लिए स्थान नहीं है। दो चार महत्त्व की बातों का उल्लेख किया जा सकता है। एक समय था जब अधिकांश भारतवासी बौद्ध थे। यह सैंकड़ों वर्षों तक भारतीय जनता का धर्म रहा। इसने ब्राह्मणवाद पर ऐसे आक्रमण किए जैसे इससे पहले किसी ने नहीं किए थे। ब्राह्मणवाद अवनति पर था और यदि एकदम अवनति पर नहीं तो भी उसे अपने अस्तित्व की ही चिंता हो रही थी। बौद्ध धर्म के विस्तार के कारण ब्राह्मणों का प्रभुत्व न राजदरबार में रहा और न जनता में। वे इस पराजय से पीड़ित थे, जो उन्हें बौद्ध धर्म के हाथों मिली थी और अपनी शक्ति तथा प्रभुत्व को पुनः प्राप्त करने के लिए हर प्रकार से प्रयत्नशील थे। जनता के मन पर बौद्ध धर्म का ऐसा गहन प्रभाव पड़ चुका था और वह उससे इतनी अधिक प्रभावित थी कि ब्राह्मणों के लिए और किसी भी तरह बौद्ध धर्म की बराबरी कर सकना एकदम असंभव था।

उसका एक ही उपाय था कि वे बौद्धों के जीवनदर्शन को अपनाएं और इस मामले में उनसे भी चार कदम आगे बढ़ जाएं। बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद बौद्धों ने

---

1. काणे का धर्मशास्त्र, अध्याय 2. भाग-2, पृष्ठ 776

बुद्ध की मूर्तियां तथा स्तूप बनाने आरंभ किए। ब्राह्मणों ने उसका अनुसरण किया। उन्होंने अपने मंदिर बनाए और उनमें शिव, विष्णु, राम, कृष्ण आदि की मूर्तियां स्थापित कीं। उद्देश्य इतना ही था कि बुद्ध मूर्ति पूजा से प्रभावित जनता को किसी न किसी तरह अपनी ओर आकर्षित करें। इस प्रकार जिन मंदिरों और मूर्तियों का हिंदू धर्म में कोई स्थान नहीं था उनके लिए स्थान बना। बौद्धों ने उस ब्राह्मण धर्म को त्याग दिया था जिसमें पशु बलि वाले और विशेष रूप से गोवध वाले यज्ञादि होते थे। गो वध के बारे में बौद्धों की आपत्ति का जनता पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। इसके दो कारण थे– एक तो वह लोग कृषि प्रधान थे और दूसरे गो बहुत उपयोगी थी। अधिक संभावना यही है कि उस समय ब्राह्मण गो घातक समझे जाकर घृणा के पात्र बन गए थे। ठीक वैसे ही जैसे अतिथि भी गोश्त की घटनाओं के कारण घृणित समझे जाने लगे थे। क्योंकि जब भी कोई अतिथि आता था तभी सम्मान में गो हत्या करनी पड़ती थी। ऐसी परिस्थिति में अपनी स्थिति सुधारने के लिए ब्राह्मण यज्ञ रूप में जो पूजा करते थे और उसके साथ जो गोवध होता था उसे छोड़ देने में ही ब्राह्मणों ने अपना हित समझा।

गोमांसाहार छोड़ने में ब्राह्मणों का उद्देश्य बौद्ध भिक्षुओं से उनकी श्रेष्ठता छीन लेना ही था। यह बात ब्राह्मणों के शाकाहारी बन जाने से सिद्ध होती है। अन्यथा ब्राह्मण शाकाहारी क्यों बना? इसका उत्तर यही है कि बिना शाकाहारी बने वह पुनः उस स्थान को प्राप्त कर ही नहीं सकता था जो बौद्ध धर्म के प्रसार के फलस्वरूप उसके पांव के नीचे से खिसक चुका था। इस संबंध में यह बात स्मरण रखने की है कि बौद्धों की तुलना में एक बात को लेकर ब्राह्मण जनता की दृष्टि में बहुत हीन पड़ता था। यह बात पशु वध की थी जो ब्राह्मणवाद की जड़ थी और जिसका बौद्ध धर्म एकदम विरोधी था। यह स्वाभाविक है कि ऐसी जनता में जो कृषि पर निर्भर करती हो बौद्ध धर्म के प्रति आदर और उस ब्राह्मण धर्म के प्रति घृणा हो जिसमें अन्य पशुओं के साथ गोओं और बैलों का भी वध होता हो। अपने विगत सम्मान को बचाने के लिए ब्राह्मण क्या कर सकते थे सिवाय इसके कि बौद्ध भिक्षुकों से भी एक कदम आगे जाकर न केवल गोमांस भक्षण ही छोड़ दें वरन शाकाहारी बन जाएं। शाकाहारी बनने में ब्राह्मणों का यही उद्देश्य था। यह कई तरह से सिद्ध हो सकता है।

यदि ब्राह्मणों ने पशु यज्ञ को बुरा मान कर सिद्धांत की दृष्टि से अपना आवरण बदला तो उनके लिए केवल इतना ही पर्याप्त था क वे यज्ञों के लिए पशुओं का वध करना बंद कर देते उनके लिए शाकाहारी बनना आवश्यक न था किंतु वे शाकाहारी बन कर रहे। इससे यह स्पष्ट होता है कि उनकी दृष्टि गूढ़ थी और एक दूसरी तरह भी उनके लिए शाकाहारी बनना एकदम अनावश्यक था क्योंकि बौद्ध भिक्षु भी शाकाहारी नहीं थे। इस कथन से कुछ लोगों को आश्चर्य हो सकता है क्योंकि सामान्य धारणा यह है कि अहिंसा और शाकाहार में आवश्यक तथा अनिवार्य संबंध

है। यह धारणा कि बौद्ध भिक्षु मांस स्पर्श नहीं करते रहे होंगे लेकिन यह एक भ्रांति है। वास्तविक बात यह है कि भिक्षु त्रिकोटी परिशुद्ध (तीन प्रकार से शुद्ध) मछली मांस ग्रहण कर सकता था। आगे चल कर यह पांच प्रकार का हो गया। चीनी यात्री ह्वेन सांग इससे परिचित था। उसने मांस के शुद्ध प्रकारों को सां-चिंग कहा है। थामस वाल्टर्स ने भिक्षुओं में इस प्रथा की उत्पत्ति की इस प्रकार व्याख्या की है उसकी कही कथा[1] के अनुसारः–

"बुद्ध के समय में वैशाली में सिंह नाम का एक सम्पन्न सेनापति था, जिसने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया था। वह भिक्षु संघ का उदार समर्थक बन गया और भिक्षुओं को मांस भोजन की कमी न होने देता था। जब यह बाहर पता लगा कि भिक्षु इस प्रकार का तैयार किया हुआ भोजन ग्रहण कर लेते हैं तो तैर्थिकों ने उनकी निंदा करनी शुरू की जो संयमी साधक भिक्षु थे। जब उन्होंने यह सुना तो भगवान को सूचना दी।" भगवान ने उन्हें संबोधन करके कहा भिक्षुओं! किसी ऐसे पशु का मांस नहीं खाना चाहिए जिसे तुमने देखा हो कि तुम्हारे लिए मारा गया है, जिसके बारे में तुमने सुना हो कि तुम्हारे लिए मारा गया है। किंतु उन्होंने भिक्षुओं को त्रिकोटि परिशुद्ध मत्स्य मांस की अनुज्ञा दे दी अर्थात् ऐसे पशु के मांस की जिसको न देखा हो कि हमारे लिए मारा गया हो, न सुना हो कि हमारे लिए मारा गया है और न किसी प्रकार का संदेह ही उत्पन्न हुआ हो कि हमारे लिए मारा गया है। पालि और सुफेन विनय पिटक के अनुसार बुद्ध और भिक्षु संघ को मध्याह्न भोजन दिया गया था। इस भोजन के लिए ही एक बैल की लाश की व्यवस्था की गई थी। निग्रन्थों ने भिक्षुओं की निंदा की। बुद्ध ने यह त्रिकोटि परिशुद्ध का नया नियम बनाया। अब से जो मांस भोजन भिक्षु कर सकते थे, वह त्रिकोटि परिशुद्ध अथवा त्रिकोटि परिशुद्ध मांस कहलाने लगा। इसे थोड़े में अदृष्ट अश्रुत अपरिशंकित अथवा चीनी अनुवाद के ढ़ग पर मेरे लिए मारा गया। ऐसा न देखा, न सुना, न संदेह हुआ कहा गया। तब दो और तरह का मांस भिक्षुओं के लिए नियमानुकूल ठहराया गया। जिस पशु की स्वाभाविक मृत्यु हो गई, तथा जो किसी शिकारी पक्षी अथवा अन्य किसी जंगली पशु द्वारा मारा गया हो। इस प्रकार पांच तरह का ऐसा मांस था जिसे कोई बौद्ध स्वतंत्रतापूर्वक उपयोग कर सकता था। तब यह अदृष्ट, अश्रुत और अपरिशंकित एक जाति हो गई और उसी में स्वाभाविक मृत्यु तथा पक्षीहंत को मिला देने से सां-चिह्न बन गया।

जब बौद्ध भिक्षु मांस खाते थे तो ब्राह्मणों को उसे छोड़ने की कोई आवश्यकता

---

1. ह्वेन सांग (1904) खण्ड II, पृ. 55

नहीं थी। फिर ब्राह्मण मांसाहार छोड़ कर शाकाहारी क्यों बन गए। इसका कारण इतना ही था कि वे जनता की दृष्टि में बौद्ध भिक्षुओं के साथ समान तल पर नहीं खड़ा होना चाहते थे।

यदि ब्राह्मण केवल यज्ञ करना और उसमें गो वध करना छोड़ देते तो इसका केवल एक सीमित परिणाम होता। अधिक से अधिक इससे ब्राह्मण और बौद्ध धर्म समान धरातल पर खड़े हो जाते। यह बात तब होती यदि वे मांसाहार के संबंध में बौद्ध भिक्षुओं का अनुकरण करते। इससे ब्राह्मणों को अपने आपको बौद्धों से श्रेष्ठ सिद्ध करने का अवसर नहीं मिलता जो कि उनकी आकांक्षा थी। यज्ञों में गोवध का विरोध करके बौद्धों ने जनता के हृदय में आदर का स्थान प्राप्त कर लिया था। ब्राह्मण उन्हें इस स्थान से पद्च्युत करना चाहते थे। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए ब्राह्मणों को उस कुटिल नीति का अनुकरण करना पड़ा जिसमें परिणाम की ओर देखा ही नहीं जाता। यह अति को प्रचंड से पराजित करने की नीति है। वह यह युद्ध नीति है जिसका उपयोग वामपंथियों को हटाने के लिए सभी दक्षिणपंथी करते हैं। बौद्धों को हटाने का एक ही तरीका था कि उनसे एक कदम आगे जाकर शाकाहारी बन जाएं।

इस मत के समर्थन में एक और प्रमाण दिया जा सकता है कि ब्राह्मणों ने गो पूजा आरंभ की और गो मांसाहार त्याग कर शाकाहारी बन गए ऐसा बौद्धों को परास्त करने के लिए ही किया। यह वह स्थिति है जब गोवध एक महान पातक बन गया। यह सर्वविदित है कि अशोक ने भी गोवध को एक अपराध नहीं ठहराया था। बहुत से लोग उससे यह आशा रखते थे कि गोवध के लिए उसे आगे बढ़ कर कदम उठाना चाहिए था। प्रोफेसर विन्सर स्मिथ को यह बात आश्चर्यजनक लगती है लेकिन इसमें आश्चर्य की कुछ भी बात नहीं है।

बौद्ध धर्म सामान्य रूप से पशु बलि का विरोधी था। उसका गो के लिए ही कोई विशेष आग्रह नहीं था। इसलिए अशोक को इस बात की कोई खास आवश्यकता नहीं थी कि वह गो रक्षा के लिए कानून बनाए। बड़े आश्चर्य की बात है कि गो वध को महापातक घोषित करने वाले गुप्त नरेश हुए जो हिंदू धर्म के बड़े प्रचारक थे, उस हिंदू धर्म के जो यज्ञों के लिए गो वध की अनुज्ञा देता है। डॉक्टर भंडारकर[1] का कथन है:–

"हमारे पास इस बात का शिलालेख का अकाट्य प्रमाण है कि पांचवी शताब्दी के आरंभिक हिस्से में गोवध करना एक भयानक पाप माना जाता था उतना ही भयानक जितना किसी ब्राह्मण को मार देना। हमारे पास 645 ई. का एक ताम्र पत्र

---

[1] सम आस्पेक्ट ऑफ एंसीएंट इण्डियन कल्चर (1940), पृ. 78-79

है जो कि गुप्त राज वंश के स्कंद गुप्त के राज्यकाल का है। यह एक दान पात्र है जिसके अंतिम श्लोक में लिखा है: "जो भी इस प्रदत्तदान में हस्तक्षेप करेगा वह गो हत्या, गुरु हत्या अथवा ब्राह्मण हत्या के पाप का भागी होगा। स्कंद गुप्त के पितामह चन्द्रगुप्त द्वितीय का भी एक लेख है जो गो हत्या को ब्रह्म हत्या के ही समान पाप मानता है। इसमें 93 गुप्त संवत्सर दिया गया है यह 412 ई. के बराबर होता है। मध्यप्रांत के सांची के प्रसिद्ध बौद्ध स्तूप के पश्चिम में खड़ा हुआ है, उसमें चन्द्रगुप्त के एक अधिकारी के दान का भी वर्णन है। इसका अंत इस प्रकार होता है। जो भी इस व्यवस्था को विकृत करेगा उसे गो हत्या, ब्राह्मण हत्या अथवा पंच अनान्तर्य का पाप लगेगा। इस कथन का उद्देश्य है विकृति करने वाला चाहे ब्राह्मण धर्म का अनुयायी हो, चाहे बौद्ध धर्म का, दोनों को भयभीत करना। पांच अनान्तर्य बौद्धों के पांच महापातक हैं। वे हैं मातृ हत्या, पितृ हत्या, अर्ह्त हत्या, बुद्ध के शरीर का रक्त बहाना, भिक्षु संघ में मतभेद पैदा करना। जिन महापातकों का ब्राह्मण धर्मी को भय दिलाया जाता है वे केवल दो हैं– गो की हत्या और ब्राह्मण की हत्या। ब्राह्मण की हत्या तो स्पष्ट ही है कि महापातक है क्योंकि जितनी भी स्मृतियां हैं सभी में ब्राह्मण हत्या को महापातक कहा गया है, किंतु गो हत्या को आपस्तम्ब, मनु, याज्ञवल्क्य और दूसरों ने केवल उपपातक ही माना है। किंतु यहां इसे ब्रह्म हत्या के साथ जोड़ देने से और दोनों को बौद्धों के अनान्तर्यों के साथ समानता का दर्जा दे दिए जाने से यह स्पष्ट है कि पांचवीं शताब्दी के आरंभ में गो हत्या को महापातकों की श्रेणी में सम्मिलित किया गया। इस प्रकार गो हत्या कम से कम एक शती पहले महापातक गिनी जाने लगी होगी अर्थात् चौथी शताब्दी के आरंभ में।"

प्रश्न उठता है कि एक हिंदू नरेश को क्या पड़ी थी कि वह गोवध के विरुद्ध अर्थात् मनु के नियमों के विरुद्ध नियम बनाता? उत्तर यही है कि ब्राह्मणों के लिए यह अनिवार्य हो गया था कि बौद्ध भिक्षुओं पर अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए वे वैदिक धर्म के अपने एक अंश से पिंड छुड़ा लें। यदि हमारा यह विश्लेषण ठीक है तो यह स्पष्ट है कि गो पूजा बौद्ध और ब्राह्मण धर्म के संघर्ष का परिणाम है। यह एक साधन था, जिसका ब्राह्मणों ने अपनी खोई हुई स्थिति को पुनः प्राप्त करने के लिए उपयोग किया।

अध्याय 14

गोमांसाहार से छितरे व्यक्ति अछूत कैसे बने?

जब ब्राह्मणों तथा अब्राह्मणों ने गोमांसाहार करना बंद कर दिया और छितरे आदमियों का गोमांसाहार जारी रहा, तो एक ऐसी स्थिति पैदा हो गई जो पुरानी स्थिति से भिन्न थी। अब फर्क यह पड़ गया कि पुरानी स्थिति में हर कोई गोमांसाहारी था। इस नई स्थिति में एक वर्ग ने गोमांस त्याग दिया था और दूसरा वर्ग खाता था। यह भेद खटकने वाला था। इसे हर कोई देख सकता था। इतना होने पर भी इस भेद का परिणाम समाज का इतना बड़ा विभेद नहीं हो सकता था जैसा इस छुआछूत में दिखाई देता है। यह एक सामाजिक भेद रह सकता था। ऐसे बहुत से उदाहरण हैं जहां एक समाज के भिन्न-भिन्न वर्ग भिन्न-भिन्न तरह का आहार ग्रहण करते हैं। एक की जो रुचि है दूसरे की अरुचि हो सकती है तो भी यह भेद दोनों में किसी प्रकार की दीवार नहीं खड़ी कर देता।

इसलिए कोई न कोई विशेष कारण होना चाहिए कि भारत में गोमांसाहार के विषय में स्थायी निवासी जातियों और खानाबदोशों के बीच में दीवार क्यों खड़ी हो गई? इसका क्या कारण हो सकता? उत्तर है कि यदि गोमांसाहार का धर्म से कोई संबंध न जुड़ता केवल व्यक्तिगत रुचि अरुचि का प्रश्न रहता– मांस खाने वालों और न खाने वालों में एक दीवार नहीं खड़ी होती। दुर्भाग्य से मांसाहार एक सामान्य लौकिक बात न रह कर धर्म का प्रश्न बन गया। यह इसलिए हुआ कि ब्राह्मणों ने गो को पवित्र पशु बना दिया। इसी से गोमांसाहार पातक बन गया। ये खानाबदोश आदमी अधर्म करने वाले होने के कारण समाज से बहिष्कृत हो गए।

यह उत्तर उन लोगों के लिए बहुत स्पष्ट नहीं भी हो सकता जो समाज के जीवन में धर्म के स्थान को नहीं समझते। वे प्रश्न कर सकते हैं कि धर्म इस विभेद का कारण क्यों बना? यदि धर्म की निम्नलिखित दो बातों को ध्यान में रखा जाए तो यह बात स्पष्ट हो जाएगी।

सबसे पहले हम धर्म की परिभाषा[1] को लें। सभी धर्मों पर लागू होने वाली एक

---

[1] एलीमेंट्री फार्मस ऑफ, रिलीजियस लाइफ पृ. 47–दुरखीम

व्यापक बात है। हर धर्म कुछ विश्वासों और आवरणों का एक स्वीकृत समूह होता है, (1) धार्मिक बातों से संबंध रखते हैं और जो (2) उन सब बातों को मानने वाले लोगों को एक जाति बना देते हैं। जरा दूसरी तरफ कहें, प्रत्येक धर्म में दो बातें रहती हैं– एक यह बात कि धर्म को पवित्र चीजों से पृथक नहीं किया जा सकता। दूसरी बात यह है कि धर्म एक सामूहिक जीवन है जो समाज से पृथक नहीं हो सकता।

धर्म का जो पहला अंश है वह यह मान कर चलता है कि जितनी भी वस्तुएं हैं–चाहे भौतिक हो चाहे पवित्र हों, जो भी मनुष्य के विचारों का विषय बनती हैं वे दो स्पष्ट विभागों में विभक्त हो जाती हैं, जो धार्मिक तथा अधार्मिक अथवा सामान्य रूप से लौकिक कहलाती हैं।

इससे धर्म की परिभाषा हो जाती है। धर्म का कर्तव्य समझने के लिए उसके संबंध में निम्नलिखित पर ध्यान देना आवश्यक है:–

पहली बात जो ध्यान देने की है वह यह है कि जो मर्यादाएं पवित्र मान ली जाती हैं वे मर्यादाएं लौकिक वस्तुओं से केवल श्रेष्ठ और सम्मानित स्थान ही नहीं रखतीं, वे एकदम भिन्न हैं। पवित्र और लौकिक मर्यादाएं एक समान नहीं हैं। दोनों में एकदम विरोधाभास है। प्रोफेसर दुरखीम[1] का कथन है:–

"अच्छे और बुरे का परंपरागत विरोध इससे अधिक कुछ नहीं क्योंकि अच्छा और बुरा दोनों एक समाज के दो विपरीत तत्त्व हैं, ठीक वैसे ही जैसे स्वास्थ्य व बीमारी एक ही जीवनक्रम के दो भिन्न पहलू हैं किंतु मानव मस्तिष्क ने पवित्र और लौकिक की जो कल्पना की है वह सर्वत्र दो भिन्न-भिन्न समाजों की कल्पना है– एकदम दो भिन्न संसारों की जिनमें कुछ भी समान नहीं है।"

जो अधिक जिज्ञासु हैं वे कदाचित यह जानना चाहेंगे कि संसार में मनुष्यों को किस चीज ने पवित्र और लौकिक को एक दूसरे के विपरीत मानने पर विवश किया। हमें इस विवाद में यहां नहीं पड़ना है, क्योंकि हमारे वर्तमान उद्‌देश्य की पूर्ति के लिए यह किसी तरह प्रासंगिक नहीं है[2]।

इसी प्रकरण में जो दूसरी बात ध्यान देने की है, वह यह है कि पवित्र वस्तुओं की संख्या निश्चित नहीं है। एक धर्म की पवित्र वस्तुओं और दूसरे धर्म की पवित्र वस्तुओं में अनन्त भिन्नता है। आत्मा और परमात्मा ही पवित्र वस्तुएं नहीं हैं। एक चट्टान, एक पशु, एक जलस्रोत, एक पत्थर का टुकड़ा, एक लकड़ी का टुकड़ा, एक घर-एक

---

[1] ऐलीमेंट्री फार्मस ऑफ रिलीजयस लाइफ, पृ. 38, दुरखीम

[2] जिज्ञासु, पृ. 37

शब्द में कहें तो कोई भी चीज पवित्र मानी जा सकती है।

पवित्र सनक कह सकते हैं। प्रो. दुरखीम को ही यदि हम फिर उद्धृत करें तो–

"पवित्र चीजें वे हैं जिनकी निषेधों द्वारा रक्षा होती है और जिन्हें निषेध पृथक करते हैं और लौकिक चीजें वे हैं जिन पर ये निषेध लागू होते हैं और जिन्हें पहली चीजों से दूर–दूर रहना ही चाहिए।"

धार्मिक निषेध अनेक रूप धारण कर लेते हैं। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण निषेध सम्पर्क का है। लौकिक (अपवित्र) का पवित्र के साथ सम्पर्क का निषेध ही इसका आधार है। दृष्टिपात भी एक तरह का सपर्क ही है। यही कारण है कि खास–खास अवस्थाओं में लौकिक (अपवित्र) आदमियों का पवित्र चीजों को देखना वर्जित है। उदाहरण के लिए कुछ चीजें जो पवित्र समझी जाती हैं, उन्हें स्त्रियां नहीं देख सकतीं। शब्द (अर्थात्) वह सांस जो आदमी का हिस्सा है और आदमी से बाहर फैलता है वह भी सम्पर्क का दूसरा रूप है। इसलिए लौकिक (अपवित्र) के लिए चीजों का संबोधन करना अथवा उनका उच्चारण करना वर्जित है। उदाहरण के लिए ब्राह्मण को ही वेद का उच्चारण करना चाहिए, शूद्र को नहीं। एक असाधारण समीप्य का सम्पर्क भोजन करने के परिणामस्वरूप उत्पन्न होता है। इसलिए पवित्र जानवरों अथवा पवित्र सब्जियों या वनस्पतियों के खाने का निषेध किया गया है।

जिन निषेधों का पवित्र वस्तुओं से संबंध है उनके बारे में चर्चा नहीं की जा सकती। यदि वे चर्चा से परे की वस्तु हैं तो बिना किसी तर्क–वितर्क के स्वीकार की जानी चाहिए। जो पवित्र है वह अस्पृश्य शब्द के विशिष्ट अर्थों में अस्पृश्य है अर्थात् उस पर कोई विवाद नहीं हो सकता। जो कुछ किया जा सकता है वह इतना ही है कि पवित्र का सम्मान किया जाए और उसकी आज्ञा मानी जाए। अंतिम बात यह है कि पवित्र वस्तुओं संबंधी निषेध सभी पर लागू होते हैं। वे स्वयं सिद्ध सत्य नहीं हैं। वे आज्ञाएं हैं। उनका पालन होना ही चाहिए और वे शाब्दिक अभिव्यक्ति नहीं हैं। वे अनुल्लंघनीय आदेश हैं। उनका उल्लंघन या न मानना अपराध से भी अधिक है, पाप है।

धर्म के क्षेत्र और कार्यकरण को समझने के लिए उपर्युक्त कथन पर्याप्त होना चाहिए। उस विषय का अधिक विवेचन अनावश्यक है। जो पवित्र है उसके संबंध में जो नियम हैं उन नियमों के अनुसार कार्य करने के ढंग के विश्लेषण से यह बात किसी के भी समझ में आ जाएगी कि गोमांसाहार ने छितरे व्यक्तियों को क्यों अछूत बना दिया? इस प्रश्न का मेरा उत्तर ठीक है। मैंने जो उत्तर दिया है उसकी गहराई तक पहुंचने के लिए इतना ही आवश्यक है कि जो पवित्र है उसके नियमों के काम

करने के ढंग का विश्लेषण गो को पवित्र वस्तु मान कर हृदयंगम कर दिया जाए। यह स्पष्ट हो जाएगा कि अस्पृश्यता पवित्र पशु गो के न खाने के निषेध को तोड़ने का ही परिणाम है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है ब्राह्मणों ने गो को एक पवित्र जानवर बनाया। उन्होंने जीवित और मृत गो में किसी प्रकार का भेद करने की भी आवश्कता नहीं समझी। गो पवित्र थी चाहे जीवित हो, चाहे मृत। गोमांसाहार केवल एक अपराध ही न था। यदि यह केवल एक अपराध होता तो इसका परिणाम केवल दंड होता। गोमांसाहार पाप ठहराया गया। यदि कोई गो को पवित्र जानवर न माने तो वह पाप का भागी होता था और उसके साथ मेलजोल रखना वर्जित था। छितरे आदमी, जिन्होंने गोमांसाहार जारी रखा, पाप के भागी हुए।

एक बार गो पवित्र मानी जाने लगी और छितरे आदमियों ने उसका मांस खाना जारी रखा तो उनके भाग्य में एक ही बात थी और वह यह कि उनके साथ उठना बैठना बंद हो जाए अर्थात् वे अछूत बन जाएं।

इस प्रकरण का अंत करने से पहले यह आवश्यक प्रतीत होता है कि इस मत के विरुद्ध दो संभव आपत्तियों का उत्तर दे दिया जाए। इस मत के विरुद्ध दो आपत्तियां तो स्पष्ट ही हैं। एक तो यह है कि इस बात का क्या प्रमाण है कि छितरे आदमी मृत गो मांस खाते थे? दूसरा प्रश्न यह है कि जब ब्राह्मणों तथा अब्राह्मणों ने गोमांस भक्षण छोड़ा तो उन्होंने (छितरे व्यक्तियों) भी क्यों नहीं छोड़ दिया? इस पुस्तक में छुआछूत की उत्पत्ति के संबंध में जिस सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया है उससे इन प्रश्नों का सीधा संबंध है। इसलिए इनका निराकरण करना ही होगा।

सचमुच पहला प्रश्न उचित और संगत है और एक प्रकार का मापदंड भी है। यदि छितरे व्यक्ति आरंभ से ही गोमांसाहारी थे तो स्पष्ट ही है कि हमारे इस नए सिद्धांत के लिए कोई जगह नहीं, क्योंकि यदि वे आरंभ से ही गोमांसाहारी थे और तब भी अछूत नहीं समझे जाते थे तो यह बात कहना कि गोमांसाहार के कारण छितरे आदमी अछूत बन गए। यदि यह एकदम पागलपन की बात नहीं है तो तर्कसंगत तो है ही नहीं। ब्राह्मणों ने गोमांसाहार छोड़ दिया और अब्राह्मणों ने उनका अनुकरण किया तो इन छितरे आदमियों ने भी यही क्यों नहीं किया? यदि विधान ने गोवध को महान पातक बना दिया था क्योंकि ब्राह्मणों और अब्राह्मणों के लिए गो पवित्र जानवर बन गया था तो इन छितरे आदमियों को भी गोमांस खाने से क्यों नहीं रोका गया? यदि उन्हें गोमांस खाने से रोक दिया गया होता तो अस्पृश्यता का जन्म ही नहीं होता। पहले प्रश्न का उत्तर यह है कि जिस समय एक स्थान पर बसी हुई जातियां और

छितरे लोग दोनों गोमांसाहारी थे तो उस समय भी एक प्रथा चल पड़ी थी जिसके कारण एक जगह बसे हुए लोग ताजा गोमांस खाते थे किंतु यह छितरे व्यक्ति मृत गाय का मांस खाते थे। हमारे पास कोई ऐसा निश्चित प्रमाण नहीं है कि एक जगह बसे हुए लोगों ने कभी मृत गाय का मांस नहीं खाया, किंतु हमारे पास विपरीत साक्ष्य हैं, जिससे प्रकट होता है कि मरी हुई गो पर छितरे व्यक्तियों का ही एकाधिकार हो गया था। इस साक्ष्य का संबंध महाराष्ट्र के महारों से है जिसका पहले भी उल्लेख हो चुका है। जैसा पहले कहा जा चुका है कि महाराष्ट्र के महार मृत पशु पर अपना अधिकार समझते हैं। अपने इस अधिकार को वे गांव के प्रत्येक हिंदू के मुकाबले सिद्ध करते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि कोई हिंदू, अपने निजी मृत जानवर का मांस कभी नहीं खा सकता। उसे यह महारों को ही सौंप देना पड़ता है। यह केवल इसी बात को कहने का एक दूसरा ढंग है कि जब गोमांसाहार एक सामान्य प्रथा थी तो महार मृत गो का मांस खाते थे और हिंदू ताजा गोमांस। अब केवल एक ही प्रश्न पैदा होता है और वह यह है कि जो बात उस समय सत्य थी क्या वह वर्तमान के संदर्भ में भी सत्य है? क्या समस्त भारत में बसे हुए कबीलों और छितरे हुए आदमियों के बीच के संबंध के रूप में महाराष्ट्र एक उदाहरण माना जा सकता है। इस संबंध में महारों में जो परंपरागत जनश्रुति प्रचलित है उसका उल्लेख किया जा सकता है। उनका कहना है कि विदर्भ (बीदर) के मुस्लिम राजा ने उन्हें 52 ऐसे अधिकार दे रखे थे जो दूसरे हिंदुओं को प्राप्य नहीं थे। यदि यह स्वीकार कर लिया जाए कि वे अधिकार उन्हें विदर्भ के राजा ने दिए थे तो उस राजा ने उन अधिकारों को पहली बार तो जन्म दिया नहीं होगा। यह अतीत काल से चले आए होंगे। राजा ने उन्हें केवल पक्का कर दिया होगा। इसका अर्थ हुआ कि छितरे व्यक्तियों के वर्ग में मृत पशुओं का मांस खाने और इन एक जगह बसे हुए कबीलों के ताजा मांस खाने की प्रथा प्राचीन समय से चली आई है। इस तरह का प्रचलन अत्यंत स्वाभाविक है। जो लोग एक जगह पर बसे हुए थे वे धनी थे। खेती और पशुपालन उनकी जीविका के साधन थे। छितरे हुए आदमी निर्धनों की जाति के थे, वे एक जगह बसे हुए लोगों पर ही सर्वथा निर्भर करते थे, जिनके पास जीविका का कोई साधन न था। दोनों के भोजन का मुख्य अंग गोमांस था। एक जगह बसे हुए लोगों के लिए यह संभव था कि वे भोजन के लिए किसी जानवर का वध कर सकें, क्योंकि उनके पास पशु थे। छितरे हुए लोग ऐसा नहीं कर सकते थे, क्योंकि उनके पास एक भी पशु नहीं होता था। ऐसी परिस्थिति में क्या यह स्वाभाविक है कि जो एक जगह बसे हुए लोग हैं वे इन लोगों को अपने पहरेदारी करने के बदले, उनकी मजदूरी के रूप में अपने मृत जानवर देना स्वीकार कर लें? निश्चय ही यह अस्वाभाविक नहीं है इसलिए यह

बात निश्चयपूर्वक मान ली जा सकती है कि अतीत काल में जब एक जगह बसे कबीले और ये छितरे हुए आदमी दोनों गोमांस खाते थे तो उस समय एक जगह बसे हुए कबीले ताजा गोमांस खाते और दूसरे मृत गोमांस। साथ ही यह बात भी कि प्रथा समस्त भारत में प्रचलित थी न कि केवल महाराष्ट्र में।

यह पहली आपत्ति का समाधान हो गया। अब दूसरी आपत्ति लें। गुप्त राजाओं ने गोवध के विरुद्ध जो कानून बनाया था वह उन लोगों के लिए था जो गोवध करते थे यह छितरे हुए आदमियों पर लागू नहीं होता था क्योंकि वे गोवध नहीं करते थे। वे केवल मृत गाय का मांस खाते थे। उनका आचरण गोवध निषेध के विरुद्ध नहीं पड़ता था। इसलिए मृत गाय का मांस खाने की प्रथा जारी करने दी गई। यदि यह मान लें कि ब्राह्मणों और अब्राह्मणों के गोमांसाहार छोड़ने का संबंध अहिंसा से था तो यह आचरण अहिंसा के भी विरुद्ध नहीं था। गोवध करना हिंसा थी, किन्तु गाय का मांस खाना हिंसा नहीं थी। इसलिए इन छितरे हुए आदमियों के लिए मृत गाय का मांस खाते रहने में किसी प्रकार के मनस्ताप का भी कोई कारण नहीं था। जो कुछ वे कर रहे थे उसमें न विधान ही किसी प्रकार की बाधा डाल सकता था और न सिद्धांत ही, क्योंकि न यह नियम के विरुद्ध था और न सिद्धांत के ही।

उन्होंने ब्राह्मणों और अब्राह्मणों का अनुकरण क्यों नहीं किया? इसके दो उत्तर हैं। पहला तो यह कि यह नकल करना उनके लिए अत्यधिक महंगा सौदा था। वे ऐसा नहीं कर सकते थे। मृत गाय का मांस उनका प्रधान जीवनाधार था। इसके बिना वे भूखों मर जाते। दूसरा मृत गायों का ढोना यद्यपि आरंभ में यह एक अधिकार था, किंतु बाद में उनका यह कर्तव्य[1] हो गया था क्योंकि उन्हें मृत गाय को ढोना ही पड़ता था, इसलिए वे जैसा पहले खाते रहे, उसी तरह अब भी उन्होंने उसका मांस खाते रहने में कोई आपत्ति नहीं समझी।

इसलिए उक्त आपत्तियों से हमारा सिद्धांत किसी भी तरह तर्कहीन नहीं है।

---

[1] एफ. एन. मद्रास में सुधार आंदोलन के कारण स्थिति बदल गई है। महार मरे ढोर उठाने को तैयार नहीं सवर्ण विवश करते हैं।

भाग छः

अस्पृश्यता तथा उसका उत्पत्ति काल

अध्याय 15. अपवित्र और अछूत

अध्याय 16. छितरे बिखरे व्यक्ति कब अछूत बने?

अध्याय 15

अशुचि और अछूत

I

अस्पृश्यता अस्तित्व में कब आई? कट्टर या रूढ़िवादी हिन्दुओं का कहना है कि यह अत्यंत प्राचीन काल से चली आ रही है। अपने कथन के आधार के समर्थन में उनका कहना है कि छुआछूत का माना जाना न केवल स्मृतियों में मिलता है जो कि जरा पीछे की हैं, किंतु धर्म सूत्रों में भी है, जो कुछ लेखकों के मत से ईसा से कुछ शताब्दियों के पूर्व के हैं।

छुआछूत की उत्पत्ति का अध्ययन करने के लिए जिस प्रश्न से आरंभ करना होगा, वह यह है कि क्या यह प्रथा इतनी पुरानी है, जितनी पुरानी यह कही जाती है?

इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमें धर्म सूत्रों का निरूपण करना होगा जिससे हम इस बात का निर्णय कर सकें कि जब धर्म सूत्र अस्पृश्यता और अछूतों की बात करते हैं, तो उनका तात्पर्य क्या है? क्या वे जिस वर्ग के लिए अछूत शब्द का प्रयोग करते हैं वह उन्हीं अर्थों में है जिन अर्थों में हम आज अछूत शब्द का प्रयोग करते हैं?

पहले प्रश्न को ही पहले लें। धर्म सूत्रों का निरूपण करने से निस्संदेह इस बात का पता लगता है कि उनमें से एक वर्ग का वर्णन है जिसे वे अस्पृश्य कहते हैं। इसमें भी कोई संदेह नहीं है कि अस्पृश्य शब्द का अर्थ है अछूत। तो भी यह प्रश्न बाकी रहता ही है कि क्या धर्म सूत्रों के अस्पृश्य वे ही हैं जो आधुनिक भारत के अस्पृश्य हैं? यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण बन जाता है, जब हमें मालूम होता है कि धर्म सूत्र ऐसे ही और भी कई शब्दों का प्रयोग करते हैं, जैसे अन्त्य, अन्त्यज, अन्त्यवासिन तथा बाह्यवाद की स्मृतियों में भी इन शब्दों का प्रयोग किया गया है। किन भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया गया है इसे जान लेना उपयोगी होगा। नीचे की तालिका से यह उद्देश्य पूरा होता है:-

1. अस्पृश्य

धर्म सूत्र	स्मृति
1. विष्णु 5, 104	1. कात्यायन मंत्र 433, 783

2. अन्त्य

धर्म सूत्र	स्मृति
1. वशिष्ठ (16, 30)	1. मनु 4.79, 8.68
2. आपस्तम्ब (3.1)	2. याज्ञवल्क्य 1-148, 197
	3. अत्रि 25
	4. लिखित 92

3. बाह्य

धर्म सूत्र	स्मृति
1. आपस्तम्ब 1.2.39.18	1. मनु 2.8
2. विष्णु 16.14	2. नारद 1.155

4. अन्त्यवासिन

धर्म सूत्र	स्मृति
1. गौतम 31.23.32	1. मनु 4-79, 10-39
2. वशिष्ठ 18.3	2. महाभारत का शांति पर्व 141.29-32
	3. मध्यमांगिरस (मिताक्षरा में उद्धृत) 3.280

5. अन्त्यज

धर्म सूत्र	स्मृति
1. विष्णु 36, 7	1. मनु 4-61, 8-279
	2. याज्ञवल्क्य स्मृति 12-73
	3. वृहद्यम स्मृति, याज्ञवल्क्य पर (मिताक्षरा में उद्धृत) 3-260
	4. अत्रि 199
	5. वेद व्यास 1.12.12

II

दूसरा प्रश्न है कि क्या अन्त्य, अन्त्यज, अन्त्यवासिन तथा बाह्य शब्दों से वही बोध होता है जो अर्थ अछूत से। दूसरे शब्दों में क्या यह एक वर्ग के लोगों के लिए भिन्न-भिन्न नाम हैं?

यह दुर्भाग्य की बात है कि धर्मसूत्र इस प्रश्न का उत्तर देने में असमर्थ हैं। अस्पृश्य शब्द दो जगह आया है। (एक सूत्र में एक बार और फिर स्मृति में एक बार) लेकिन एक भी जगह उन जातियों की गिनती नहीं की गई, जिनका यह शब्द द्योतक है। यही स्थिति अन्त्य शब्द के बारे में है। यद्यपि अन्त्य शब्द छः जगह आया है (दो सूत्रों में और चार स्मृतियों में) लेकिन उनमें किसी स्थल पर भी यह नहीं लिखा है कि इस शब्द के अंतर्गत कौन-कौन जातियां आती हैं? इसी तरह बाह्य शब्द चार जगह आया है। (दो सूत्रों में और दो स्मृतियों में) अन्त्यवासिन तथा अन्त्यज ये दोनों शब्द अपवाद रूप हैं। किंतु यहां भी किसी धर्म सूत्र में उनकी गिनती नहीं है, केवल स्मृतियों में उनकी गिनती है। अन्त्यवासिन की गिनती मध्यमंगिरस नामक स्मृति में दी गई है और अन्त्यज की अत्रि स्मृति तथा वेद व्यास स्मृति में। वे कौन हैं। यह नीचे तालिका से स्पष्ट हो जाएगा -

अन्त्यवासिन	**अन्त्यज**	
मध्यमंगिरस	**अत्रि**	**वेद व्यास**
1. चाण्डाल	1. नट	चाण्डाल
2. श्वपक	2. मेद	श्वपक
3. छत्त	3. भिल्ल	नट
4. सूत	4. रजक	मेद
5. वैदेहिक	5. चर्मकार	भिल्ल
6. मागद	6. बुरुद	रंजक
7. अयोगव	7. कैवर्त	चर्मकार
		विराट
		दास
		भट्ट
		कोलिक
		पुष्कर

उक्त तालिका से स्पष्ट है कि जहां तक अन्त्यवासिन और अन्त्यज शब्दों के प्रयोग की बात है उसमें न तो कहीं कुछ निश्चयात्मक है और न कहीं किसी प्रकार का अर्थ साम्य ही है। उदाहरण के लिए चाण्डाल और श्वपाक दोनों ही मध्यमंगिरस और वेदव्यास के अनुसार अन्त्यवासिन और अन्त्यजों में भी गिने गए हैं। लेकिन जब मध्यमांगिरस की अत्रि के साथ तुलना की जाती है तो ये भिन्न श्रेणियों में विभक्त दिखाई देते हैं। यही बात अन्त्यज के लिए भी सत्य है उदाहरण के लिए वेदव्यास के अनुसार 1. चाण्डाल और 2. श्वपक अन्त्यज हैं किंतु अत्रि के अनुसार वे अन्त्यज नहीं हैं। फिर अत्रि के अनुसार बुरुद और कैवर्त अन्त्यज हैं किंतु वेदव्यास के अनुसार वे अन्त्यज नहीं हैं। फिर वेदव्यास के अनुसार (1) विराट, (2) दास, (3) भट्ट, (4) कोलिक, (5) पुष्कर अन्त्यज हैं।

किंतु अत्रि के अनुसार नहीं।

इसका सार इतना ही है न तो धर्म सूत्रों से ही हमें यह निश्चय करने में कुछ सहायता मिलती है कि अस्पृश्य कौन थे और ना ही स्मृतियों से। इसी प्रकार धर्म सूत्र और स्मृतियां इस बारे में भी हमारी कुछ सहायता नहीं करतीं कि जो वर्ग अत्यजवासिन, अन्त्यज अथवा बाह्य कहलाते थे क्या वे अस्पृश्य ही थे अथवा नहीं? क्या कोई दूसरा उपाय है जिससे यह निर्णय हो सके कि इनमें से कोई एक भी वर्ग अस्पृश्य अथवा अछूत की श्रेणी में आता है या नहीं? बेहतर तो यह होगा यदि हम इनमें से प्रत्येक वर्ग के बारे में जो भी जानकारी प्राप्त है, उसे एकत्र कर लें।

बाह्य को ही लें। वे कौन हैं? वे क्या हैं? क्या वे अछूत हैं? मनु ने उनका उल्लेख किया है। उनकी स्थिति समझने के लिए मनु की सामाजिक वर्गीकरण की योजना का उल्लेख करना आवश्यक है। मनु लोगों को अनेक वर्गों में विभक्त करता है। पहले तो वह[1] (1) वैदिकों (2) दस्युओं का वर्गीकरण करता है। इसके आगे वह वैदिकों को चार उप वर्गों में विभाजित करता है:–

(1) जो चातुर्वर्ण्य के भीतर हैं (2) जो चातुर्वर्ण्य के बाहर हैं

(3) ब्रात्य (4) पतित या जाति से बहिष्कृत हैं।

कोई आदमी चातुर्वर्ण्य के अंदर गिना जाए या नहीं, वह इस बात पर निर्भर करता था कि उसके माता–पिता का वर्ण क्या है? यदि वह समान वर्ण के माता–पिता की संतान है तो वह चातुर्वर्ण्य के अंदर गिना जाता था। यदि वह अलग–अलग वर्ण के माता–पिता की संतान हुआ जिसे मिश्रित विवाह का परिणाम कह सकते हैं अथवा जिसे

---

1. मनुस्मृति, अध्याय–45

मनु वर्ण संकर कहता है तो वह चातुर्वर्ण्य से बाहर माना जाता था। जो चातुर्वर्ण्य के बाहर माने गए हैं मनु ने उसके फिर दो भेद किए हैं। (1) अनुलोम, (2) प्रतिलोम। अनुलोम[1] वे जिनके पिता ऊंचे वर्ण के किंतु माता नीच वर्ण की और प्रतिलोम उससे उल्टे अर्थात् जिनकी माता ऊंचे वर्ण की और पिता नीचे वर्ण के। यद्यपि चातुर्वर्ण्य के बाहर होने के कारण अनुलोम तथा प्रतिलोम दोनों समान ही थे तो भी मनु ने दोनों में भेद किया है। अनुलोमों को वह वर्ण बाह्य अथवा केवल बाहर कहता है और प्रतिलोम को हीन। "हीन" बाह्य लोगों से निचले दर्जे के हैं लेकिन न बाह्य ही मनु की दृष्टि में अछूत हैं और न हीन ही।

अन्त्यों का एक वर्ण के रूप में मनुस्मृति के श्लोक 4.79 में उल्लेख किया गया है किंतु मनु उनकी गणना नहीं करते। मेधातिथि ने अपने भाष्य में बताया है कि अन्त्य का अर्थ म्लेच्छ है जैसे भेद इत्यादि। बुलहर ने अन्त्य का अनुवाद हीन जाति के आदमी के रूप में किया है।

इस प्रकार अन्त्यों के अछूत होने की किसी तरह पुष्टि नहीं होती। अधिक संभव यही है कि यह नाम उन लोगों को दिया गया था जो गांव के अंत में रहते थे। उनको नीच जाति के गिने जाने के कारण बृहदारण्यक उपनिषद की कथा में आता है, जिनका काणे ने उल्लेख किया है।[2] कथा इस प्रकार है:–

"देवताओं और असुरों में संग्राम हुआ। देवताओं ने सोचा कि वे उद्गीय उद्गीन्तक द्वारा असुरों पर विजयी हो सकते हैं। इसमें उद्धरण है कि इस देवता (प्राण) ने पाप जो इन देवताओं के लिए मृत्यु था, को इन देवों (वाक् आदि) के एक ओर फेंक कर देवताओं के अंत में पहुंचा दिया। इसलिए किसी को आर्यों की सीमा के बाहर नहीं जाना चाहिए न दिशाओं के अंत में (गृह निवासों के अंत में) उसे यह विचार करना चाहिए कि ऐसा करने से वह पाप मन अर्थात् काल के कराल गाल में जा सकता है।"

अन्त्य शब्द का अर्थ इस उद्धरण में आने वाले "दिशाम अंत" के अर्थ में आया है। यदि दिशाम अंत का अर्थ गांव की सीमा के सिरे पर लिया जा सकता है और उसे खींचतान कर निकाला हुआ अर्थ न समझा जाए तो अन्त्य शब्द के मूल अर्थ की कुछ व्याख्या हमारे हाथ लग जाती है। इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि अन्त्य लोग अछूत हैं। इससे इतना ही अर्थ निकलता है कि वे गांव की सीमा पर रहते थे।

---

1. मनु स्मृति, अध्याय–45
2. काणे, हिस्ट्री आफ धर्म सूत्र, खण्ड 2, भाग 1, पृष्ठ 167

जहां तक अन्त्यजों की बात है उनके बारे में जो कुछ हम जानते है, वह उनके अछूत होने की बात का खंडन करने के लिए पर्याप्त है। इन कुछ बातों की ओर ध्यान दिया जा सकता है।[1]

महाभारत के शांति पर्व (109.9) में अन्त्यजों के सैनिक होने का उल्लेख है। सरस्वती विलास के अनुसार पितामह ने रजकों की सात जातियों की बात कही है, जो प्रकृति के रूप में अन्त्यजों में गिने जाते थे। प्रकृति का अर्थ धोबी आदि व्यावसायिक श्रेणियां हैं यह बात शक सम्वत् 622 के भिल्लक द्वितीय के संगमनेर (ताम्रपत्र) से स्पष्ट हो जाती है। इस ताम्रपत्र में 18 प्रकृतियों को दान में दिए गए एक गांव का उल्लेख है। वीरमित्रोदय का कहना है कि श्रेणी का अर्थ रजक आदि अठारह जातियां हैं जो सामूहिक तौर पर अंत्यज कहलाती हैं। इन बातों के रहते हुए यह कैसे कहा जा सकता है कि अंत्यज लोग अछूत माने जाते थे।

अब अन्त्यवासिनों को लें। वे कौन थे। क्या वे अछूत थे? अन्त्यवासिन शब्द का दो भिन्न अर्थों में प्रयोग हुआ है। इसका एक अर्थ है वह ब्रह्मचारी जो गुरु के पास उसके घर रहता है। ब्रह्मचारी के लिए अन्त्यवासिन[2] शब्द आया है। शायद अंत में भोजन करने वाला होने से अन्त्यवासिन कहलाता हो। जो भी हो, यह निर्विवाद है कि इस संबंध में इस शब्द का अर्थ अछूत नहीं हो सकता तो हो ही कैसे सकता है जब केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ही ब्रह्मचारी बन सकते थे? दूसरे अर्थ में वह एक लोक समूह का द्योतक है किंतु इसमें भी इस बात में संदेह है कि यह शब्द अछूत का पर्याय था।

वशिष्ठ धर्म सूत्र (18.3) के अनुसार वे शूद्र पिता और वैश्य माता की संतान हैं। किंतु मनु 15.39 के मत के अनुसार वे चाण्डाल पिता और निषाद माता की संतान हैं। उनके वर्ग के संबंध में मिताक्षरा का कहना है कि अन्त्यवासिन अन्त्यजों का ही एक उपवर्ग है। इसलिए अन्त्यजों के बारे में जो बात सत्य है, वह अन्त्यवासिन के बारे में भी सत्य समझी जा सकती है।

III

यदि विषयांतर कर अपने प्राचीन साहित्य में अन्त्यवासिन, अन्त्य तथा अन्त्यज आदि की सामाजिक अवस्था के बारे में प्राप्त जानकारी का विवरण लें तो स्पष्ट है कि हमें यह कहने में संकोच है कि अछूत शब्द के आधुनिक अर्थ में वे अछूत थे,

---

1. काणे, हिस्ट्री आफ धर्म सूत्र, खण्ड 2, भाग 1, पृष्ठ 70
2. अमर कोश 2 ब्रह्म वर्ग, श्लोक 4

लेकिन तो भी ऐसे लोगों की भरपाई के लिए जिन्हें अभी संदेह बाकी हो, एक दूसरे दृष्टिकोण की भी समीक्षा की जा सकती है। यह मान कर कि उन्हें अस्पृश्य कहा गया है, हम यह पता लगाने का प्रयास करें कि धर्म सूत्रों के समय में अस्पृश्य शब्द का क्या लाक्षणिक अर्थ था।

हम उद्देश्य की पूर्ति के लिए धर्म शास्त्रों के बनाए हुए प्रायश्चित के नियमों को लें। इनका अध्ययन करने से हम यह देख सकेंगे कि क्या धर्म सूत्रों के समय में भी अस्पृश्य शब्द से भी वही अर्थ प्रकट होता है जो आज है।

इस उदाहरण के लिए अस्पृश्य कहलाने वाली एक जाति चाण्डाल को लें। पहले तो यह बात ध्यान में रखने की है कि चाण्डाल शब्द से किसी जाति विशेष का भान नहीं होता। यह एक दूसरे से भिन्न कई तरह के लोगों के लिए एक शब्द है। शास्त्रों में कुल मिलाकर पांच तरह के चाण्डालों का वर्णन है। वे हैं:—

(1) शूद्र पिता और ब्राह्मण[1] माता की संतान

(2) कुंवारी कन्या[2] की संतान

(3) सगोत्र स्त्री[3] की संतान

(4) संन्यासी होकर पुनः गृहस्थ होने वाले की संतान[4]

(5) नाई पिता और ब्राह्मण माता[5] की संतान।

यह कहना कठिन है कि किस चाण्डाल का शुद्ध होना आवश्यक है। हम यह मान लेते हैं कि सभी चाण्डालों का शुद्ध होना आवश्यक कहते हैं। शास्त्रों ने शुद्धि के क्या नियम ठहराए हैं:—

"जाति बहिष्कृत, एक चाण्डाल, सूतक के कारण अपवित्र स्त्री, मासिक धर्म वाली स्त्री, मुर्दा तथा उनको स्पर्श करने वाले लोगों का यदि स्पर्श हो जाए तो सचैल (वस्त्रों सहित) स्नान से पवित्र हो सकेगा।"

"यह सतंभ, चिंता, श्मशान भूमि, रजस्वला स्त्री, अथवा सद्यप्रसूता स्त्री, अपवित्र आदमी अथवा चाण्डाल को स्पर्श करने वाले को पानी में डुबकी लगा कर स्नान करना होगा।"

---

1. धर्मसूत्रों, स्मृतियों तथा मनुस्मृति के अनुसार।
2. वेद व्यास स्मृति (1.910) के अनुसार।
3. वेद व्यास स्मृति (1.910) के अनुसार।
4. परासर माधव्य में उद्धृत "यम" के अनुसार।
5. अनुशासन पर्व (29-17) जिसे मातंग भी कहा जाता है।

बौधयन वशिष्ठ से सहमत हैं, क्योंकि उसके धर्म सूत्र (प्रश्न-1, अध्याय 5, खंड-6, श्लोक-5) का कहना है:-

अपवित्र स्थान पर लगा हुआ वृक्ष, चिता, यज्ञ स्तंभ, चाण्डाल तथा वेद बेचने वाले को यदि कोई ब्राह्मण स्पर्श करेगा तो उसे सचैल स्नान करना होगा।"

मनु स्मृति के नियम इस प्रकार हैं:-

5.85 जब ब्राह्मण किसी चाण्डाल, किसी रजस्वला स्त्री, किसी पतित, किसी प्रसूता, किसी शव अथवा जिसने शव को स्पर्श किया हो, ऐसे किसी का स्पर्श करता है तो स्नान करने से शुद्ध होता है।

5.131 कुत्तों द्वारा मारे गए (पशु) का मांस, किसी अन्य मांसाहारी पशु द्वारा मारे गए प्राणी का मांस अथवा चाण्डाल द्वारा मारे गए प्राणी का मांस पवित्रहोताहै।

5.143 किसी वस्तु को किसी भी ढंग से ले जाता हुआ कोई व्यक्ति यदि किसी अपवित्र व्यक्ति या वस्तु से छू जाएगा तो उस चीज को बिना रखे ही वह आचमन करने से पवित्र हो जाएगा।

धर्म सूत्रों तथा मनुस्मृति से उद्‌धृत इन उद्धरणों से निम्नलिखित बातें स्पष्ट हो जाती हैं:-

1. चाण्डाल के स्पर्श से केवल ब्राह्मण ही अशुद्ध होता था।

2. संभवतः संस्कार विशेष के ही अवसर पर शुद्धि-अशुद्धि का ख्याल किया जाता था।

IV

यदि ये निष्कर्ष ठीक हैं तो यह अशुद्धि का ही मामला है जो अस्पृश्यता से बिल्कुल भिन्न है। अपवित्र और अछूत में भिन्नता बिल्कुल स्पष्ट हो। अछूत सभी को अपवित्र करता है, किन्तु अशुद्ध केवल ब्राह्मण को अपवित्र करता है। अशुद्ध का स्पर्श केवल संस्कारों के अवसर पर ही अपवित्रता का कारण बनता है, किन्तु अछूत का स्पर्श सदैव कारण बनता है।

एक और तर्क है जिसका उल्लेख अभी तक नहीं किया गया है। इससे यह मत सर्वथा निरर्थक सिद्ध हो जाता है कि धर्म सूत्रों में जिन जातियों के नाम आए हैं वे अछूत थीं। यह तर्क अध्याय 2 में आर्डर-इन-कौंसिल की जातियों की जो सूची दी गई है और इस अध्याय में स्मृतियों के आधार पर बनाई गई सूची की तुलना करने से उत्पन्न होता है। इस तुलना से क्या प्रकट होता है?

1. स्मृतियों में दी गई जातियों की अधिक से अधिक संख्या केवल 12 है जबकि आर्डर-इन-कौंसिल में इन जातियों की संख्या 429 है।

2. ऐसी जातियां हैं जिनके नाम आर्डर-इन-कौंसिल में तो हैं किंतु स्मृतियों[1] में नहीं हैं। कुल 429 में से 427 जातियां ऐसी हैं जिनके नाम स्मृतियों में हैं ही नहीं।

3. ऐसी जातियां हैं जिनके नाम स्मृतियों में हैं, किन्तु आर्डर-इन-कौंसिल की सूची में नहीं हैं।

4. ऐसी केवल एक जाति है जिसके नाम दोनों में हैं। वह जाति है चमार[2]।

जो यह नहीं मानते कि अपवित्र और अछूत अलग-अलग हैं वे उक्त बातों से अपरिचित प्रतीत होते हैं। लेकिन उन्हें यह बात स्वीकार करनी ही पड़ेगी। ये बातें इतनी विशेष और इतनी प्रभावोत्पादक हैं कि हमें इस बात को स्वीकार करना ही पड़ेगा कि अपवित्र और अछूत भिन्न-भिन्न हैं। पहली बात को लें। इससे एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न पैदा होता है।

यदि दोनों सूचियों में एक ही वर्ग के लोगों का उल्लेख हो तो इन दोनों में यह भेद और इतना अधिक भेद क्यों है? यह कैसे है कि शास्त्रों में जिन जातियों का नाम आया है वे आर्डर-इन-कौंसिल में हैं ही नहीं? दूसरी ओर आर्डर-इन-कौंसिल में जिन जातियों का नाम आया है वे शास्त्रों की सूची में हैं ही नहीं? यह ऐसी कठिनाई है जिसे हल करना होगा।

यदि हम यह मान लें कि इससे एक ही वर्ग के लोगों का तात्पर्य है तो स्पष्ट ही है कि आरंभ में जो छुआछूत केवल बारह जातियों तक सीमित थी वह 429 जातियों में फैल गई। इस अस्पृश्यता के जंजाल के विस्तार का क्या कारण है? यदि ये 429 जातियां उसी वर्ग की हैं जिस वर्ग की बारह जातियों का शास्त्रों में उल्लेख है तो किसी भी शास्त्र में इन चार सौ उन्तीस जातियों का नाम क्यों नहीं है? यह हो ही नहीं सकता कि जिस समय शास्त्र लिखे गए उस समय इन चार सौ उन्तीस जातियों में से कोई एक भी जाति विद्यमान नहीं थी। यदि सब नहीं थीं तो कुछ तो अवश्य रही होंगी। तब जो थीं उनका भी नाम क्यों नहीं लिखा मिलता?

---

[1] कौंसिल आदेश में उल्लिखित 429 जातियों में से केवल 3 का स्मृतियों में वर्णन है।

[2] दोनों सूचियों में नट और रजक का भी उल्लेख है किंतु कौंसिल आदेश के अनुसार वे देश के कुछ भागों में ही अस्पृश्य हैं। चमार पूरे देश में अछूत हैं।

यदि यह मान कर चलें कि दोनों सूचियां एक ही वर्ग के लोगों की हैं तो इन प्रश्नों का कोई भी संतोषजनक उत्तर दे सकना टेढ़ी खीर है और यदि यह स्वीकार कर लें कि ये दोनों सूचियां भिन्न-भिन्न वर्गों के लोगों की हैं तो ये सब प्रश्न व्यर्थ हो जाते हैं। ये सूचियां भिन्न वर्गों के लोगों की हैं। क्योंकि शास्त्रों की सूचियां अपवित्र लोगों की हैं और आर्डर-इन-कौंसिल की सूची अछूत लोगों की है। यही कारण है कि दोनों सूचियां भिन्न हैं। दोनों सूचियों का भेद जो दूसरी बात से सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है इसी के पक्ष में है कि शास्त्रों में जिन वर्गों का वर्णन है वे केवल अपवित्र हैं। उन्हें आज के अछूत लोगों के साथ मिलाना भूल है।

अब दूसरी बात को लें। यदि अपवित्र और अछूत एक ही हैं तो ऐसा क्यों है कि 429 जातियों में से एकदम 427 जातियों का स्मृतियों को ज्ञान ही नहीं। स्मृतियों के समय में वे जाति रूप में विद्यमान रही ही होंगी। यदि अब अछूत हैं तो वे उस समय भी अछूत रही होंगी, तो तब की स्मृतियों में उनका नाम क्यों नहीं है?

अब तीसरी बात लें। यदि अपवित्र एक ही ओर वही हैं तो जिन जातियों का नाम स्मृतियों में आता है उनका नाम आर्डर-इन-कौंसिल की सूची में क्यों नहीं आया है, इस प्रश्न के केवल दो उत्तर हो सकते हैं। एक तो यह कि यद्यपि वे एक समय अछूत थे किंतु बाद में अछूत नहीं रहे। दूसरा यह कि दोनों सूचियों में ऐसी जातियों के नाम हैं जो एकदम भिन्न वर्ग की हैं। पहला उत्तर निराधार है क्योंकि छुआछूत तो सनातन है। समय न तो इसे मिटा सकता है न दूर ही कर सकता है। एकमात्र संभव उत्तर दूसरा ही है।

अब चौथी बात लें। इन दोनों सूचियों में एकमात्र चमार को ही क्यों स्थान मिला? इसका यह उत्तर नहीं हो सकता कि दोनों सूचियां एक ही वर्ग के लोगों की हैं। यदि यह उत्तर ठीक होता तो न केवल चमार, किंतु स्मृतियों की सूची में दी गई शेष सारी जातियों के नाम दोनों सूचियों में आए होते। लेकिन वे नहीं आए हैं। ठीक उत्तर यही है कि दोनों सूचियां दो भिन्न वर्ग के लोगों की हैं। अपवित्रों की सूची में से कुछ अछूतों की सूची में भी हैं। इसका कारण यही है कि जो एक समय अपवित्र थे वे बाद में अछूत हो गए। यह ठीक है कि चमार का नाम दोनों सूचियों में आता है लेकिन यह कोई इस बात का प्रमाण नहीं हो सकता कि अपवित्र और अछूत में कोई भेद नहीं। इससे यही सिद्ध होता है कि चमार जो किसी समय अपवित्र था बाद में अछूत बन गया। इसलिए उसका नाम दोनों सूचियों में शामिल करना पड़ा। स्मृतियों में वर्णित बारह जातियों में से अकेले चमारों को ही अछूत क्यों बनाया गया, इसका कारण समझना कठिन नहीं है। चमार और अन्य अपवित्र जातियों में जिस बात ने भेद की

दीवार खड़ी की है यह बात गोमांसाहार है। जिस समय गो को पवित्रता का दर्जा मिला और गोमांसाहार पाप बन गया उस समय अपवित्र लोगों में जो मांसाहारी थे केवल वे ही अछूत बने। केवल चमार ही गोमांसाहारी जाति है इसलिए केवल इसी एक जाति का नाम दोनों सूचियों में आता है। चमारों के संबंध में जो प्रश्न है उसका उत्तर दो बातों के संबंध में निर्णायक है। छुआछूत इस बात का द्योतक है कि गोमांसाहारी ही अछूतपन का मूल कारण है और अपवित्र को अछूत से भिन्न करता है।

अस्पृश्यता और अपवित्रता एक ही नहीं है, इस बात का छुआछूत के काल निर्णय में बहुत महत्त्व है इसके बिना छुआछूत का समय निश्चित करने का प्रयत्न करना विषयांतर होगा।

जाति भावनाओं से आर्थिक विकास रुकता है। इससे वे स्थितियां पैदा हो जाती हैं जो कृषि तथा अन्य क्षेत्रों में सामूहिक प्रयत्नों के विरुद्ध हैं। जात-पांत के रहते ग्रामीण विकास समाजवादी सिद्धांतों के विरुद्ध रहेगा। इसलिए जातिवाद के कारण जो बड़े-बड़े हजारे बन गए हैं, उन्हें तोड़ा जाए और जमीन उन लोगों में बांट दी जाए, जो उसे जोतते हैं या सामूहिक खेती कर सकते हैं, जिससे शहरों और गांवों में तेजी से विकास हो।

– डॉ. भीमराव अम्बेडकर

अध्याय 16

बहिष्कृत व्यक्ति अछूत कब बने?

पूर्ववर्ती शोध और विचार-विमर्श से यह बात सिद्ध हो गई है कि एक समय था जब भारत के प्रत्येक गांव के दो हिस्से होते थे। एक बसे हुए लोगों का दूसरा छितरे हुए लोगों का यद्यपि दोनों अलग-अलग रहते थे। बसे हुए लोग गांव के अन्दर और छितरे हुए लोग गांव के बाहर तो भी दोनों के पारस्परिक सामाजिक आचार व्यवहार में किसी प्रकार की कोई बाधा न थी। गाय को पवित्र घोषित करने और गोमांस भक्षण निषिद्ध कर दिए जाने से समाज दो हिस्सों में बंट गया। बसी हुई जातियां छूत जातियां बन गई और छितरे हुए लोग अछूत जातियां। छितरे हुए आदमी अछूत कब समझे जाने लगे, यह अंतिम प्रश्न विचारणीय है। छुआछूत की उत्पत्ति की निश्चित तिथि का निर्णय करने में जो कठिनाइयां हैं वे प्रकट ही हैं। अस्पृश्यता सामाजिक मनोविज्ञान का एक पहलू है। यह एक दल का दूसरे दल के प्रति सामाजिक घृणा भाव है। यह सामाजिक मनोविज्ञान का ही एक विकास है जिसे अपना यह स्वरूप बनाने में कुछ समय लगा ही होगा। इसलिए किसी भी एक ऐसी चीज के अस्तित्व में लाने की निश्चित तिथि का निर्णय करने का कोई भी दावा नहीं कर सकता, जो सम्भवतः बीज रूप में उत्पन्न होकर रक्त बीज ही बन गया और सर्वग्राही बन बैठा। अस्पृश्यता का बीज कब पनपा होगा यह कल्पनातीत है। कोई निश्चित तिथि तो क्या उसके आसपास का कोई काल निश्चित नहीं किया जा सकता।

कोई अधिक सीमा निश्चित करने के संबंध में जो पहली बात ध्यान देने की है वह यह है कि जो अंत्यज कहलाते हैं उनका उल्लेख वेद में आता है, लेकिन उन्हें जब अछूत नहीं समझा जाता था तो उन्हें अपवित्र भी नहीं माना जाना था। इस निष्कर्ष के समर्थन में काणे[1] का यह कथन उद्धृत किया जा सकता है:-

आरंभिक वैदिक वाङ्‌यम में ऐसे अनेक नाम आते हैं जिन्हें स्मृतिकारों ने अंत्यज कहा है। ऋग्वेद (8.8.38) में चर्मणा आया है। चांडाल और पौल्कस वाजसनेयि

---

[1] धर्म सूत्र, खंड 2, भाग 1, पृष्ठ 165

संहिता में आए हैं। वेया अथवा वेप्ता। ऋग्वेद में विदलकार अथवा बीदलकीर स्मृतियों के अनुसार बुरुद वाजस्नेही संहिता में तैत्तिरीय ब्राह्मण में आए हैं। वासहपलपुली, स्मृतियों में रजकों की प्रतिनिधि वाजसनेयि संहिता में किंतु इन उद्धरणों में इस बात की ओर कहीं इशारा नहीं है कि यदि ये लोग जातियां भी बन गए थे तो क्या वे लोग अछूत थे।

इस प्रकार वैदिक काल में कहीं कोई अस्पृश्यता नहीं थी। जहां तक धर्म सूत्रों के काल की बात है हम देख चुके हैं कि उस समय अपवित्रता थी किंतु अस्पृश्यता नहीं थी।

क्या मनु के समय में अस्पृश्यता[1] थी? इस प्रश्न का बिना सोचे समझे उत्तर नहीं दिया जा सकता। मनु स्मृति का एक श्लोक है, जिसमें मनु का कथन है कि केवल चार वर्ण हैं पांचवा है ही नहीं। यह श्लोक एक पहेली का रूप लिए हुए है। कौन कह सकता है कि इसका ठीक तात्पर्य क्या है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह विवाद चातुर्वर्ण्य को लेकर किसी जाति के संबंध में रहा होगा। यह भी उतना ही स्पष्ट है कि विवाद का केन्द्र-बिंदु क्या रहा होगा? संक्षेप में कहना हो तो विषय यही था कि जाति विशेष को चातुर्वर्ण्य के भीतर स्वीकार किया जाए अथवा वह चातुर्वर्ण्य के बाहर पांचवी जाति मानी जाए? यह सब एकदम स्पष्ट है। अस्पष्ट तो यही है कि यह विवाद किस एक जाति के संबंध में है? इसलिए जिस जाति के संबंध में यह विवाद है मनु ने उसका विशेष रूप से उल्लेख नहीं किया।

यह श्लोक इसलिए भी रहस्यमय अथवा गूढ़ार्थक है क्योंकि मनु का निर्णय भी अस्पष्ट है। मनु का निर्णय है कि कोई पांचवां वर्ण नहीं है। यह कथन अभिधा में है, जो हर किसी की समझ में आता है। लेकिन जब इस निर्णय को उस जाति विशेष पर लागू किया जाए, जिसका दर्जा विवादग्रस्त विषय था तो इसका क्या अर्थ होता है? प्रकट ही है कि इसके लाक्षणिक अर्थ होते हैं। इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि कोई पांचवां वर्ण नहीं है इसलिए वह जाति विशेष इन्हीं चारों वर्णों में से किसी एक के अंतर्गत स्वीकार की जानी चाहिए। किंतु इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि वर्ण चार ही होते हैं, पांचवां हो नहीं सकता, इसलिए उस जाति विशेष को एक दम चातुर्वर्ण्य के बाहर माना जाए।

रूढ़िवादी हिंदू की परंपरागत व्याख्या है कि मनुस्मृति के इस उद्धरण का अछूतों से संबंध है। यह अछूतों का ही दर्जा था जो विवाद का विषय था, और अछूतों के दर्जे के संबंध में ही मनु का यह निर्णय है। यह व्याख्या इतनी जटिल हो गई है कि

---

[1] मनु स्मृति, अध्याय-10, श्लोक 4

इससे यह हुआ कि हिंदू दो वर्गों में विभाजित हो गए। सवर्ण हिंदू तथा अवर्ण हिंदू, अर्थात् अछूत चातुर्वर्ण्य से अलग। प्रश्न है कि क्या यह मत ठीक है? मनु के इस श्लोक का तात्पर्य किससे है? क्या इसका तात्पर्य अछूतों से है? संभव है कि इस विषय की चर्चा का विचाराधीन विषय से कोई संबंध अथवा मेल न हो।

लेकिन ऐसी बात नहीं है, क्योंकि यदि श्लोक का संबंध अछूतों से ही है तो इससे यह सिद्ध हो सकता है कि मनु के समय में छुआछूत थी। यह एक ऐसी अवस्था है जिसका विचारणीय विषय से सीधा संबंध है। इसलिए इस विषय को लेकर विवेचन करना ही होगा।

मेरा निश्चित मत है कि उक्त व्याख्या गलत है। मेरी मान्यता है कि इस श्लोक का अछूतों से कोई भी संबंध नहीं है। मनु ने यह कहीं नहीं कहा है कि वह कौन सी जाति थी जिसका दर्जा विवाद का विषय था और जिसके विषय में मनु ने अपना निर्णय दिया। क्या यह अछूतों की जाति थी अथवा यह कोई दूसरी जाति थी? अपने मत के समर्थन में कि इस श्लोक का अछूतों से कुछ भी संबंध नहीं है, मैं दो बातों पर निर्भर करता हूं–पहली बात तो यही है कि मनु के समय में छुआछूत नहीं थी, उस समय केवल अपवित्रता/अशुचिता थी। चाण्डाल के प्रति मनु का भाव एकमात्र घृणा का है। वह चांडाल भी अपवित्र ही था। ऐसा होने पर इस श्लोक का किसी तरह भी अस्पृश्यता से कोई संबंध नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि हमारे पास इस बात के समर्थन में प्रमाण हैं कि इस श्लोक का संबंध अछूतों से नहीं दासों से है। इस मत का आधार नारद स्मृति के उस श्लोक की भाषा से है जिसका उद्धरण इसी पुस्तक के सातवें अध्याय में दिया गया है जहां छुआछूत का आधार पेशा कहा गया है। यह बात ध्यान देने की है कि नारद स्मृति दासों का पांचवा वर्ण मान कर उनका उल्लेख करती है। यदि नारद स्मृति में पांचवे वर्ण का अर्थ दास हो सकता है तो कोई कारण नहीं कि मनुस्मृति में पांचवे वर्ण का अर्थ दास न हो। यदि तर्क ठीक है तो इससे यह कथन निरर्थक हो जाता है कि मनु के समय में अस्पृश्यता थी और मनु अछूतों को वर्ण व्यवस्था के अंतर्गत लेने को तैयार न थे। इन कारणों से मनुस्मृति के इस श्लोक का संबंध अछूतपन से नहीं है और इसलिए यह मानने का कोई कारण नहीं है कि मनु के समय में छुआछूत थी।

इस प्रकार हम निश्चयात्मक रूप से अस्पृश्यता के काल की ऊपरी सीमा का निर्णय कर सकते हैं। हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि मनुस्मृति ने छुआछूत का आदेश नहीं दिया तो भी एक महत्त्वपूर्ण प्रशन बाकी रह जाता है। मनुस्मृति का काल क्या है? इस प्रश्न के उत्तर के बिना एक सामान्य आदमी के लिए किसी विशेष काल में अस्पृश्यता के होने के बारे में कुछ भी कह सकना कठिन है। मनुस्मृति

के बारे में पंडितों में मतैक्य नहीं। कुछ इसे अत्यंत प्राचीन मानते हैं और कुछ अत्यंत अर्वाचीन। सभी बातों पर विचार करके प्रो. बूहलर ने मनुस्मृति का एक समय निश्चित किया है जो युक्तिसंगत प्रतीत होता है। प्रो. बूहलर ने मनुस्मृति के काल का निर्धारण किया है जो सत्य प्रतीत होता है। प्रो. बूहलर के अनुसार जो मनुस्मृति जिस रूप में हमें जो मिलती है ईसा की दूसरी शताब्दी में अस्तित्व में आई[1]। प्रो. बूहलर ने ही मनुस्मृति के लिए इतना समीप का समय निश्चित नहीं किया। श्री दफतरी भी इसी परिणाम पर पहुंचे हैं। उनका मत है कि मनुस्मृति 185 ई. पूर्व के बाद अस्तित्व में आई। इससे पहले नहीं। श्री दफतरी का तर्क है कि मौर्य वंश के बौद्ध नरेश महाराज बृहद्रथ की हत्या उसके ब्राह्मण सेनापति पुष्पमित्र ने की थी। मनुस्मृति का इस घटना से सीधा संबंध है। क्योंकि यह दुर्घटना 185 ई. पूर्व में हुई इसलिए मनुस्मृति 185 ई. पूर्व के बाद लिखी गई होगी। ऐसे महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष का समर्थन करने के लिए पुष्पमित्र द्वारा बृहद्रथ मौर्य की हत्या और मनुस्मृति के लिखे जाने में जो संबंध रहा है उसे जोरदार अकाट्य प्रमाणों से सिद्ध करने की आवश्यकता है। दुर्भाग्य से श्री दफतरी ने ऐसा नहीं किया, परिणामस्वरूप उनका निष्कर्ष निराधार प्रतीत होता है। इस प्रकार के संबंध को सिद्ध करना अनिवार्य है। सौभाग्य से इस संबंध में प्रमाणों की कमी नहीं है।

पुष्पमित्र द्वारा बृहद्रथ मौर्य की हत्या की ओर किसी का ध्यान नहीं जाना दुर्भाग्य का विषय है। इस घटना की ओर जितना ध्यान दिया जाना चाहिए उतना ध्यान आकर्षित नहीं हुआ। इतिहासकारों ने इसे दो व्यक्तियों की व्यक्तिगत शत्रुता का सा रूप देकर एक सामान्य सी घटना मान लिया है। इसके परिणामों की ओर ध्यान दें तो यह युगान्तकारी घटना थी। इस घटना का महत्त्व इस बात से नहीं मापा जा सकता कि यह किसी राजवंश की थी—शुंगों द्वारा मौर्य का स्थान ग्रहण करना। यह फ्रांस की राज्य क्रांति से भी यदि बड़ी नहीं तो उतनी ही बड़ी राजनैतिक क्रांति अवश्य थी। यह एक क्रांति थी—लाल क्रांति। इसका उद्देश्य था बौद्ध राजाओं का तख्ता उलट देना। इसके सूत्र संचालक थे ब्राह्मण। पुष्पमित्र द्वारा बृहद्रथ की हत्या इस बात की द्योतक है।

विजयी ब्राह्मण को अनेक चीजों की आवश्यकता थी। स्वाभाविक तौर पर इसके लिए यह आवश्यक था कि चातुर्वर्ण्य को देश का विधान बना दिया जाए। बौद्ध इसे अस्वीकार करते ही थे। इसे इस बात की भी आवश्यकता थी कि जिस पशु–बलि को बौद्धों ने रोक दिया था उसे विधान का रूप दे दिया जाए। लेकिन इसके अतिरिक्त और भी कुछ चाहिए था। बौद्ध नरेशों के विरुद्ध यह क्रांति लाकर ब्राह्मणवाद ने देश के ऐसे दो प्रचलित नियमों का उल्लंघन कर दिया जिनको सभी लोग पवित्र और

---

1. बूहलर, लाइफ ऑफ मनु (एस.बी.ई.), खण्ड-15, भूमिका सी. एस. एन.

अनुल्लंघनीय मानते थे। पहला यह नियम बनाया कि ब्राह्मण द्वारा शस्त्र का स्पर्श करना भी पाप है। बनाए गए दूसरे नियम के अनुसार राजा का शरीर पवित्र था और राज हत्या पाप। विजयी ब्राह्मणवाद को अपने पापों का समर्थन करने के लिए एक पवित्र ग्रंथ की आवश्यकता थी जो सभी के लिए प्रमाणस्वरूप हो। मनुस्मृति की ओर ध्यान आकर्षित करने वाली विशेषता यह है कि वह न केवल चातुर्वर्ण्य को देश का विधान बताती है और न केवल पशु बलि को कानून की दृष्टि से उचित ठहराती है, किंतु यह भी बताती है कि ब्राह्मण को कब हाथ में शस्त्र लेना चाहिए और वह राजा की हत्या करके भी अधर्म नहीं करता। इस मामले में मनुस्मृति ने वह काम किया जो पहले की किसी स्मृति ने नहीं किया। यह नितांत नया मार्ग विशुद्ध नवीन सिद्धांत है। मनुस्मृति को ऐसा करने की आवश्यकता क्यों पड़ी? इसका केवल एक ही उत्तर है कि पुष्पमित्र ने जो राजक्रांति की थी उसका दार्शनिक समर्थन किया जाए। पुष्पमित्र और मनुस्मृति के इस नए सिद्धांत के बीच के संबंध से यही प्रकट होता है कि मनुस्मृति 185 ई. पूर्व के कुछ बाद में अस्तित्व में आई। यह ऐसी तिथि है कि प्रो. बूहलर की तिथि से बहुत दूर नहीं है। मनुस्मृति का काल निर्णय हो जाने पर हम कह सकते हैं कि दूसरी शताब्दी में अस्पृश्यता नहीं थी।

अब हम अस्पृश्यता की उत्पत्ति के निर्धारण के बाद की सीमा की ओर ध्यान दें। इसके लिए हमें चीनी यात्रियों के प्रसंग देखने होंगे, जो भारत आए और जिन्होंने अपने समय के भारतीय रीति-रिवाजों का उल्लेख किया। इसमें से फाहियान नामक चीनी यात्री का कथन विशेष है।

वह सन् 400 ई. में भारत आए जो कुछ उसने देखा और लिखा, अपने उस वर्णन में एक जगह वह लिखता है[1]:-

''इस (मथुरा) से दक्षिण में विख्यात मध्य देश है। यहां की जलवायु ऊष्ण और सम शीतोष्ण है। यहां न पाला पड़ता है न बर्फ गिरती है। लोग समृद्धशाली हैं। उन पर व्यक्तिकर नहीं है तथा दूसरे राजकीय प्रतिबंध से भी मुक्त हैं। जो शासकीय जमीन जोतते रहना चाहें तो जोतते रह सकते हैं, यदि बंद करना चाहें तो बंद कर सकते हैं। राजा बिना शारीरिक दंड के शासन करते हैं। अपराधियों को परिस्थिति के अनुसार हलका या भारी जुर्माना किया जाता है। बार-बार विद्रोह करने पर भी केवल उनका दाहिना हाथ ही काटा जाता है। राजा के दाएं रहने वाले उसके अंगरक्षकों का निश्चित वेतन है। देश भर में केवल चांडालों के अतिरिक्त कोई भी न किसी जीव की हत्या करता है न सुरापान करता है और न लहसुन या प्याज खाता है। चांडालों को "कुपुष" कहा जाता है। वे दूसरों से अलग रहते हैं। यदि वे बस्ती या बाजार में प्रवेश करते हैं तो वे अपने आप को

---

1. बुद्धिस्ट रिकार्डस इन वेस्टर्न इण्डिया बिल-भूमिका, पृ. 38

पृथक करने के लिए लकड़ी के टुकड़े से एक विशेष प्रकार की आवाज करते हैं। लोगों को उनके आगमन का पता लग जाता है वे उनसे बच कर चलते हैं। इस प्रदेश में लोग न सुअर पालते हैं न मुर्गी। ये पशुओं का क्रय-विक्रय भी नहीं करते। इनके यहां खुले बाजारों में न पशु वधशालाएं हैं और न शराब की दुकानें। क्रय-विक्रय में ये कौड़ियों का उपयोग करते हैं। चांडालों का काम है केवल शिकार करना और बेचना।''

क्या इस उद्धरण को फाहियान के समय अस्पृश्यता की उपस्थिति का प्रमाण स्वीकार किया जा सकता है? चांडालों के प्रति जो व्यवहार किया जाता था उस वर्णन के एक हिस्से से ऐसा अनुमान निकाला जा सकता है कि फाहियान के समय छुआछूत का अस्तित्व था।

किंतु इस निष्कर्ष के स्वीकार करने में एक कठिनाई है। कठिनाई इस कारण पैदा होती है जो कुछ कहा गया है, वह केवल चांडालों के विषय में ही है। छुआछूत का अस्तित्व अथवा अनस्तित्व सिद्ध करने के लिए चांडालों का उदाहरण एक अच्छा उदाहरण नहीं है। ब्राह्मण चांडालों को अपना परंपरागत शत्रु समझते रहे हैं। उनके लिए यह स्वाभाविक है कि वे उन पर घृणित आचरण का आरोप लगाएं, उनके लिए नीच शब्दों का प्रयोग करें और अपनी जुगुप्सा की शांति के लिए उनके प्रति विषवमन का मिथ्या प्रचार करें। इसलिए जो कुछ भी चांडालों के बारे में कहा गया है उस पर बहुत सोच विचार कर विश्वास करना चाहिए।

यह तर्क केवल कल्पना पर ही आधारित नहीं है। जिन्हें इस पर सन्देह हो वे प्रमाणस्वरूप बाण की कादम्बरी में दिए गए चांडालों के प्रति भिन्न व्यवहार पर विचार कर सकते हैं।

कादम्बरी की कथा बड़ी गूढ़ है। वास्तव में उससे हमारा विशेष संबंध भी है। हमारे उद्देश्य के लिए इतनी जानकारी पर्याप्त है कि यह कथा एक चांडाल कन्या द्वारा पाले गए वैशम्पायन नामक तोते ने राजा शूद्रक को सुनाई है। कादम्बरी[1] का निम्नलिखित उदाहरण हमारे लिए महत्त्वपूर्ण है। बाण ने चांडाल बस्ती का जो वर्णन किया है उसी से आरंभ करना ठीक होगा। वह इस प्रकार है:-

"मैंने बर्बरों की बस्ती देखी—दुष्कर्मों का साक्षात बाजार। चारों ओर लड़के शिकारी कुत्तों को खोल कर दौड़ाते हुए, अपने बाजों को सिखाते हुए अपने जाल की मरम्मत करते हुए, हथियार लिए हुए, मछली पकड़ते हुए, वेशभूषा में भूतों के समान भयानक लग रहे हैं। घने बांस के जंगलों से घिरी उनकी बस्तियों के दरवाजों का अनुमान

---

[1] कादम्बरी (रीडिंग ट्रांसलेशन), पृ. 204

जहां-तहां उठने वाले घरों के धुएं से लग सकता था, घर में चारों ओर खोपड़ियां लटकी हुई थीं; (627) रास्ते में कूड़े के ढेर पर हड्डियां पड़ी हुई, झोपड़ियों के आंगन में रक्त, चर्बी और छिछड़ों का ढेर, उनका जीवन शिकार का भोजन, मांस, चिकनाई, चर्बी, वस्त्र मोटे, खुरदरे रेशम के, आसन सूखे चमड़े के व घरों के पहरेदार कुत्ते, सवारी के लिए पशु-गाय, पुरुषों का काम शराब और स्त्री का धंधा, देवताओं के लिए रक्त की बलि, पशु वध। यह जगह साक्षात नरक का दृश्य था।"

ऐसी बस्ती से चांडाल कन्या अपने तोते के साथ राजा शूद्रक के महल को जाती है। राजा शूद्रक अपने दरबारियों के साथ दरबार में विराजमान हैं। द्वारपालिका अंदर जाती है और निम्न प्रकार से सूचना देती है[1]:-

"महाराज, दक्षिण से आई हुई एक चांडाल कन्या द्वारा पर खड़ी है। वह उस त्रिशंकु वंश की शोभा है जो आकाश पर चढ़ा हुआ था, किंतु क्रोधी इन्द्र के व्रज प्रहार के कारण भूमि पर आ गिरा। उसके पास पिंजरे में एक तोता है और वह मेरे द्वारा श्रीमन् से यह निवेदन करती है:-

महाराज आप समुद्र की तरह संसार के सारे रत्नों को ग्रहण करने के अधिकारी हैं। यह समझ कर कि यह तोता संसार का अद्भुत आश्चर्य और अमूल्य रत्न है मैं आपको समर्पित करने के लिए आई हूं और आपके दर्शन करना चाहती हूं। हे राजन आपने उसका संदेश सुन लिया। अब आप जो आज्ञा दें।" इस प्रकार उसने अपना भाषण दिया। राजा ने उत्सुकतावश दरबारियों की ओर देखा और "क्यों नहीं, उसे आने दो" कह कर अपनी आज्ञा दे दी। तब राजाज्ञा पाते ही द्वारपालिका ने उस चांडाल कन्या को अंदर आने दिया। वह अंदर चली आई।

राजा और उसके दरबारियों ने पहले तो उसकी ओर ध्यान नहीं दिया। राजा का ध्यान आकर्षित करने के लिए उसने चित्रित फर्श को बांस से ठोका। इसके आगे बाण उसके सौन्दर्य का वर्णन[2] करता है:-

"तब राजा ने उधर देखो कह कर द्वारपालिका के निर्देशानुसार उस चांडाल कन्या की वेशभूषा की ओर बड़े ध्यान से देखा। उसके आगे-आगे एक आदमी चल रहा था जिसके बालों को उसकी दीर्घ आयु ने सफेद कर दिया था, जिसकी आंखें कमल की तरह लाल थीं, जिसके अंग सतत तारुण्य होने पर भी लगातार परिश्रम के कारण मजबूत थे, उसकी आकृत यद्यपि मातंग की थी तो भी उपेक्षणीय नहीं थी, और जो दरबार के योग्य श्वेत वस्त्र धारण किए हुए था उसके पीछे-पीछे एक चांडाल लड़का

---

1. कादम्बरी (रीडिंग ट्रांसलेशन), पृ. 6
2. वही, पृष्ठ 8-10

था, जिसके बाल उसके दोनों कंधों पर लटके हुए थे। उसके हाथ में एक पिंजरा था। पिंजरे की सीखें स्वर्ण की थीं तो भी वह तोते की कलंगी की छाया पड़ने के कारण नीलम की तरह चमकती थी। वह चांडाल कन्या स्वयं अपने सांवले रंग के कारण उस कृष्ण के सदृश थी जिसने एक बार असुरों से अमृत छीनने के लिए स्त्री का वेश धारण किया था। वह ऐसी प्रतीत होती थी मानो नीलम की प्रतिमा चली जा रही हो। उसके नीचे वस्त्रों पर जो एड़ी तक लटके हुए थे लाल रंग के रेशम की चादर पड़ी थी मानो संध्याकालीन सूर्य नीले कमल पर चमक रहा हो। उसके कानों से लटकती हुई बालियों के कारण उसके गालों का रंग सफेद हो गया था जैसे उगते हुए चन्द्रमा की किरणों के कारण रात्रि का मुखड़ा। उसके माथे पर गोरोचन का एक छोटा सा तिलक था मानो यह तीसरी आंख हो। वह शिवाजी के अंग पर सजी पर्वतारोहिणी पार्वती सी लगती है।

यह श्री (लक्ष्मी) की तरह शोभायमान थी, जिसके वस्त्र नारायण की नील वर्ण छाया की शोभा से सुशोभित थे अथवा रति की भांति जिसे क्रोधी शिव द्वारा दहन किए गए कामदेव की आग से उत्पन्न होने वाले धुएं ने काला कर दिया था अथवा यमुना की तरह जो बलराम के हल से खींची जाने के डर से भागी जा रही थी। अथवा गहरी आंख से जिसने उसके कमल जैसे चरणों में से कोंपलें निकाल दी हों, ठीक वैसे ही जैसे दुर्गा रक्त चरण जिसने अभी महिषासुर का दलन किया हो।

उसकी उंगलियों की गहरी लाली के कारण उसके नाखून गुलाबी रंग के थे, चित्रित फर्श उसके कोमल स्पर्श के लिए अति कठोर था। वह आगे बढ़ी और उसने पांव जमीन पर ऐसे टेक दिए मानो दो कोमल टहनियां हों।

उसके पांव से निकलने वाली अग्नि वर्ण किरणें उसे ऐसे घेरे हुए थीं मानो वह अग्नि (देवता) के बाहुओं से घिरी हो, मानो उसके सौन्दर्य पर मुग्ध होकर वह उसके जन्म दूषण को दूर कर ब्रह्मा के कृत को अकृत करना चाहता हो।

उसकी कमर ऐसी थी मानो प्रेम के हाथी के माथे पर तारों की पंक्ति जड़ी हो, उसकी माला बड़े-बड़े चमकदार मोतियों की एक लड़ी थी मानो गंगा की धारा को अभी-अभी यमुना ने रंगत दी हो।

शरत ऋतु की भांति उसने अपने कमल सदृश नयन खोले, वर्षा के बादलों जैसे उसके काले-काले बाल थे, मलय पर्वत की शृंखला की तरह वह चंदन से लिप्त थी, राशि चक्र की तरह वह मुक्ताजड़ित थी। सरस्वती की तरह उसके हाथ कमल की तरह सुंदर थे, अचैतन्य की तरह वह हृदय पर अधिकार करती थी, वन की तरह उसके पास जीवित सौंदर्य था, देव कन्या की तरह उस पर किसी का अधिकार न

था, निद्रा की तरह वह आंखों को मोहित करती थी। जिस प्रकार जंगल में एक कमल सरोवर हाथियों से आंदोलित करता है, उसी प्रकार अपने मातंग जन्म के कारण कुछ आभाहीन थी, देवता की तरह उसका स्पर्श नहीं किया जा सकता, यंत्र की तरह वह केवल आंखों को सुख देने वाली थी, वसंत के फूलों की तरह वह जाति पुष्प विहीन थी। कामदेव के धनुष की तरह उसकी क्षीण कटि हाथ से तानी जा सकती थी, और उसके घुंघराले बाल, अल्कापुरी, के यक्षराज की लक्ष्मी के समान थे, उसका तारुण्य अभी खिला ही था, वह अत्यंत सुंदर थी। राजा को आश्चर्य हुआ। वह सोचने लगा कि विधाता ने इस सौंदर्य को अस्थान (अनुचित स्थान) पर उत्पन्न किया। क्योंकि यदि वह अपने चांडाल रूप का उपहास करने के लिए पैदा हुई है और सारे संसार के सौंदर्य रूपी धन का उसके द्वारा उपहास होता है तो वह एक ऐसी जाति में क्यों पैदा हुई कि कोई उसका उपयोग ही न कर सके, निस्संदेह प्रजापति ने केवल अपनी कल्पना से ही इसकी रचना की है। उसे डर रहा कि मातंग जाति के स्पर्श से कहीं उसे दंड न भोगना पड़े अन्यथा यह अछूत सौंदर्य तो हाथ से बनाए अंगों में आ ही नहीं सकता, कहां से आया? और यद्यपि इसका रूप सुंदर है तो भी अपने जन्म की नीचता के कारण वह मर्त्यलोक की लक्ष्मी की तरह देवताओं की निरंतर निंदा का कारण है, तथा अपने सौंदर्य के ही कारण इस प्रकार की विचित्र रचना करने वाले ब्रह्मा के मन में भय का संचार करती है।

जिस समय राजा इस प्रकार विचार कर रहा था वह कन्या बड़े विश्वास के साथ जो उसकी आयु से परे की चीज थी, राजा के सामने झुकी, वह कानों तक फूलों से लदी हुई थी। जिस समय वह प्रणाम करके जड़ित फर्श पर आगे बढ़ी तो उसके सेवक ने वह तोता लिया जो अभी पिंजरे में ही था और दो बार कदम आगे बढ़ा कर उसे राजा को दिखाते हुए कहा:–

श्रीमान इस तोते का नाम वैशम्पायन है। यह सब शास्त्रों का अर्थ जानता है। यह राजनीति के व्यवहार में कुशल है। यह कथा, इतिहास और पुराणों का पंडित है। यह संगीत के लय ताल से सुपरिचित है। यह सुंदर अद्वितीय आधुनिक प्रेमकथाओं, नाटकों और कविताओं की रचना करता है तथा हमें सुनाता है। यह वाक्पटु है और वीणा, बांसुरी तथा मृदंग वादन में अद्वितीय है। यह नृत्यकला का पंडित है और चित्रकला में भी चतुर है। यह क्रीड़ा में भी बहादुर है और प्रेमकलह में क्रोधित तरुणी को शांत करने के उपाय खोज निकालने में भी पंडित है। यह हाथियों, घोड़ों, आदमियों तथा स्त्रियों के लक्षणों का ज्ञाता है। यह सारी पृथ्वी का रत्न है। मेरे स्वामी की पुत्री यही विचार करके जिस प्रकार मोतियों का स्थान समुद्र है उसी प्रकार पृथ्वी के धन आप के हैं इसे आपको समर्पित करने के लिए लाई हूं। हे राजन इसे स्वीकार करें।''

चांडाल कन्या का यह वर्णन पढ़ कर अनेक प्रश्न पैदा होते हैं पहले तो यही कि फाहियान के वर्णन से कितना भिन्न है? दूसरे बाण एक वात्स्यायन ब्राह्मण है। उससे द्वारा चांडाल बस्ती का ऐसा वर्णन कर चुकने के बाद चांडाल कन्या का ऐसा ऐश्वर्यशाली वर्णन करने में कुछ संकोच नहीं होता। क्या इस वर्णन का छुआछूत के साथ जुड़ी प्रचंड घृणा की भावना के साथ मेल बैठता है? यदि चांडाल अछूत थे तो एक अछूत कन्या राजा के महल में कैसे जा सकती थी? एक अछूत के लिए बाण इस प्रकार की भाषा कैसे उपयोग में ला सकता था? पतित होने की बात तो बहुत दूर है बाण के समय में चांडालों में शासक परिवार भी थे। बाण चांडाल कन्या को चांडाल राजकुमारी[1] कहता है। बाण ने कादंबरी 600 ई. के आसपास लिखी। इसका अर्थ हुआ कि 600 ई. तक चांडाल अछूत नहीं समझे जाते थे। इससे यह एकदम संभव प्रतीत होता है कि फाहियान ने जिस अवस्था का वर्णन किया है वह यद्यपि छुआछूत की सीमा को स्पर्श करती है किंतु वह अस्पृश्यता नहीं भी हो सकती। संभव है कि यह अपवित्रता को लेकर अति करने की बुरी आदत रही हो। यह बात और भी अधिक संभव प्रतीत होती है। यदि हम यह बात याद रखें कि जब फाहियान भारत आया उस समय यहां गुप्त राजाओं का राज्य था। गुप्त नरेश ब्राह्मणवाद के पोषक थे। यही वह समय है जब ब्राह्मणवाद का पुनरुद्धार हुआ और यह विजयी हुआ। एकदम संभव है कि फाहियान जिस चीज का वर्णन करता है वह अस्पृश्यता नहीं है किंतु वह एक सीमा है जहां तक ब्राह्मण इस संस्कारग्रस्त अपवित्रता को खींच कर ले जाना चाहते थे। यह संस्कारग्रस्त अपवित्रता कुछ जातियों, विशेष रूप से चांडालों के साथ जुड़ गई थी।

दूसरा चीनी यात्री जो भारत आया उसका नाम ह्वेनसांग था। वह 629 ई. में भारत आया और भारत में सोलह वर्ष तक रहा तथा लोगों के रीति-रिवाजों और देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक की गई अपनी यात्राओं का यथार्थ विवरण अपने पीछे छोड़ गया है। भारत के मकानों और शहरों की सामान्य अवस्था का वर्णन करते हुए वह कहता[2] है:-

" जिन शहरों और बस्तियों में वे रहते हैं उन शहरों, मकानों की चारदीवारी ऊंची, चौड़ी है किंतु सड़कें तंग और टेढ़ी-मेढ़ी हैं। दुकानें सड़कों पर हैं और सरायें सड़कों के किनारे-किनारे हैं। कसाई, धोबी, नट, नर्तक, वधिक और भंगियों की बस्ती एक निश्चित चिह्नों द्वारा पृथक की गई हैं। वे शहर से बाहर रहने के लिए मजबूर किए जाते हैं और जब कभी उन्हें किसी घर के पास से गुजरना होता है तो वे बायीं ओर

---

1. कादम्बरी (रीडिंग ट्रांसलेशन), पृ. 204
2. वाल्टर, ह्वेनसांग, खण्ड I, पृ. 147

बहुत दब कर निकलते हैं।"

ऊपर का उद्धरण इतना अधिक छोटा है कि उससे कोई निश्चित परिणाम निकालना असंभव है। लेकिन इसमें एक बात महत्त्व की है और वह यह कि फाहियान का जो वर्णन है वह केवल चांडालों से संबंध रखता है। और ह्वेनसांग का वर्णन चांडालों के अतिरिक्त दूसरी जातियों के बारे में भी है। यह एक बड़े महत्त्व की बात है। ऐसे वर्णन के विरुद्ध कोई ऐसा-वैसा तर्क नहीं लिया जा सकता क्योंकि यह चांडालों के अतिरिक्त दूसरी जातियों पर भी लागू है। इसलिए यह एकदम संभव है कि जिस समय ह्वेनसांग भारत आया तब अस्पृश्यता की उत्पत्ति हो गई थी।

ऊपर जो कुछ कहा जा चुका है उसके आधार पर हम यह कह सकते हैं कि 200 ई. में तो अस्पृश्यता का अस्तित्व नहीं था, किंतु 600 ई. तक इसका जन्म हो गया था।

छुआछूत की उत्पत्ति का निर्णय करने के लिए यह दो ऊपर की और नीचे की सीमाएं हैं। क्या हम छुआछूत की उत्पत्ति की कोई ऐसी तिथि निश्चित कर सकते हैं जो लगभग ठीक हो? मैं समझता हूं कि यदि हम गोमांसाहार से आरंभ करें तो हम कर सकते हैं। गोमांसाहार ही छुआछूत के मूल में निहित है। यदि हम गोमांसाहार निषेध को अपने चिंतन की आधारशिला बनाएं तो इसका यह मतलब है कि अस्पृश्यता की उत्पत्ति का गोवध तथा गोमांसाहार निषेध से सीधा संबंध होना चाहिए। यदि हम यह बता सकें कि गोवध किस समय तक अपराध बना और गोमांसाहार किस समय पाप बना तो हम अस्पृश्यता की उत्पत्ति की एक ऐसी तिथि निश्चित कर सकते हैं जो लगभग ठीक हो।

गोवध कब एक अपराध घोषित किया गया?

हम जानते हैं कि मनु ने न तो गोमांसाहार का निषेध किया और न गोवध को अपराध ठहराया। यह अपराध कब बना? जैसा कि डी.आर. भंडारकर ने स्पष्ट किया है चौथी ई. में किसी समय गुप्त नरेशों द्वारा गोवध प्राण दंडनीय अपराध घोषित किया गया।

इसलिए हम कुछ विश्वास के साथ कह सकते हैं कि छुआछूत 400 ई. के आसपास किसी समय पैदा हुई और बौद्ध धर्म और ब्राह्मण धर्म के संघर्ष में से पैदा हुई है। इस संघर्ष ने भारत के इतिहास को पूरी तरह बदल दिया है। खेद है कि भारत के इतिहास के विद्यार्थियों ने इसके अध्ययन की उपेक्षा की है।

सभी मनुष्य एक ही मिट्टी के बने हुए हैं और उन्हें यह अधिकार भी है कि अपने साथ अच्छे व्यवहार की मांग करें।

– डॉ. भीमराव अम्बेडकर

अनुक्रमणिका

अन्त्य, 125-127, 129

अन्त्यज, 27, 35, 36, 79, 125-128, 130, 137

अन्त्यवासिन, 125-128, 130

अछूत, 3, 27-29, 33, 35, 36, 37, 41, 47-49, 61, 62, 65, 71, 73, 74, 76, 78, 79, 80, 119-120, 125, 128-130, 132-133, 137, 138, 146

अत्रि, 128

अनुसूचित जातियां, 14-22

अपवित्र, 132-134

अपवित्रता, 4, 5, 7, 8, 12, 22-24, 48, 135, 138, 139, 146

अब्बेदुब्याव, 74

अब्राह्मण, 97, 99, 112

अम्बरबलिया, 9

अल्त्पूर्द, 41, 43-44

अशुचिता, 13, 23, 139

अशुद्धि, 7-9, 11-14, 132

अशोक, 94-97, 107, 115

असुर, भाषा, 57, 58

अस्पृश्य, 125-128, 131

अस्पृश्यता, 125, 132-133, 135, 137-139, 141-142, 146-147

अहिवृत्र, 58

आगा खान, 71

आदिम समाज, 3, 7-9, 29-33, 43

आदिवासी, 71-73

अध्यात्मवादी, 71-93

आपस्तम्ब गृहसूत्र 87, 90

आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 86, 87, 88, 90

आयरलैंड, 39, 41-44

आर्डर-इन-कौंसिल, 14, 132-134

आर्य, 49, 50, 59, 63, 66

आश्वलायन गृह सूत्र, 87, 88, 90

ओल्डहम, 54, 57

ऐतरेय ब्राह्मण, 99-107

ऋग्वेद, 50, 57, 85, 86, 137

कबायली, 39, 40, 43

कबीला, 41

काणे, 86, 129, 137

कादम्बरी, 142, 146

काल्डवैल, डॉ., 58

कुर्मी, 60

कुल, 62

कूटदंत सूत्र, 90

कौशिक सूत्र, 87

खानाबदोश जातियां, 31

गायत्री पुराण, 97

गैब्रायल टार्दे, 97

गो 85-86, 109, 111, 116, 120, 134

गोत्र, 62

गोमांस, 79-81, 85, 94, 97, 99, 110,

111, 117
गोमांसाहार, 113, 117-122, 147
गोवध, 113, 115, 116, 120, 145, 147
गोहत्या, 90, 96, 97, 107, 109, 111
घुमन्तु समाज, 30
घमार, 134
चातुर्वर्ण्य, 44, 66, 67, 128-129, 138, 140-141
चाण्डाल, 60, 131-132, 139, 141-147
चेरू, 54-56
छितरे व्यक्ति, 35, 41, 75, 119, 120, 137
छुआछूत, 3, 6, 14, 22-24, 27, 47, 48, 65, 67, 79, 80, 117, 119,125, 133-135, 137-138, 142, 146, 147
टोडा, 5
तैत्तरीय ब्राह्मण, 87
त्रिकोटि परिशुद्ध मांस, 114
थर्स्टन, ई., 60
थामस वाल्टर्स, 114
दफतरी, 140
द्रविड़, 49, 53-59, 61, 65
दास, 49, 50, 59, 65-67, 139
दीक्षितय्यर, 54
दुरखीन, प्रो. 118-119
धर्म, 117-119
धर्म सूत्र, 125, 127-128
धुरे, प्रो., 59
नाग, 49-61
नारद स्मृति, 65, 66, 139
पवित्रता, 5, 6, 8
पाराशर गृह सूत्र, 87
पुष्पमित्र, 140-141
पैरियन, 48
पैरिया, 74
फयूदहिर, 40-41, 43
फाहियान, 141, 142, 145-147
बसे हुए लोग, 137
बाण, 145-146
बाह्य, 126-128
ब्राह्मण, 60, 61, 74, 75, 77, 78, 99, 106, 110-116, 119, 140-141 147
ब्राह्मणवाद, 112, 113, 140, 146
ब्रेहन, 39
बुद्ध, 113-114
बूहलर, प्रो., 139-140
बौद्ध, 76-78, 140
बौद्ध-ब्राह्मण संघर्ष, 112-116
बौद्ध धर्म, 112-115, 147
बौधायन गृह सूत्र, 88
बृहदारण्यक उपनिषद, 112, 129
भंडारकर, डॉ. 115, 147
मधुपर्क, 87, 88, 109, 110
मनु., 11, 13, 27, 44, 57, 95-97, 107, 110-112, 116, 128-130, 138-139, 147

मनुस्मृति, 11, 107–110, 129, 132, 138–141
महाभारत, 130
महार, 36, 62, 121
मांसाहारी, 93, 108, 109, 114, 115
मुकर्जी, प्रो. राधाकुमुद, 96
मुडा, 4
मैकेन्जी, जे.एस.एफ., 75
म्यूर, प्रो., 57
मृच्छकटिक, 76
याज्ञवल्क्य, 66, 90, 111
यूप, 99–101
राइस, स्टैनले, 47–49, 59, 61, 65
रिसले, 60, 62
लक्ष्मीधर, 57
वशिष्ट धर्म सूत्र, 130
वेदव्यास, 80, 128
वेदव्यास स्मृति, 80
वेदान्त, 49, 111
वेल्स, 40, 44
वैदिक वाङ्मय, 50, 137
वैदिक काल, 138
वैशम्पायन, 142, 145
शतपथ ब्राह्मण, 57, 85, 86, 90
शाकाहारी, 93, 108, 111–115
शिलालेख, 94, 96, 115
शुद्धि, 8, 12, 13
शुद्धिकरण, 8, 9
शूद्र, 119
श्ववाक, 128
सरस्वती विलास, 130
सहस्त्रचंद्रिका, 57
सायण, 57
सीमोम, 40, 44
सूर्यवंशी, 56
स्कन्दगुप्त, 53
स्तंभलेख, 94
स्मिथ, विसेंट, 96, 115
ह्वेनसांग, 114, 146–147
हिंदू, 71–73, 81, 85, 91
हिब्रू, 9
हिरण्य गृह सूत्र, 87
होलियर, 75
हेनरी मैन, सर, 39–40
हेमिंगजवे, 75

बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय

खंड 01	भारत में जातिप्रथा एवं जातिप्रथा–उन्मूलन, भाषायी प्रांतों पर विचार, रानडे, गांधी और जिन्ना आदि
खंड 02	संवैधानिक सुधार एवं आर्थिक समस्याएं
खंड 03	डॉ. अम्बेडकर–बंबई विधान मंडल में
खंड 04	डॉ. अम्बेडकर–साइमन कमीशन (भारतीय सांविधिक आयोग) के साथ
खंड 05	डॉ. अम्बेडकर – गोलमेज सम्मेलन में
खंड 06	हिंदुत्व का दर्शन
खंड 07	क्रांति तथा प्रतिक्रांति, बुद्ध अथवा कार्ल मार्क्स आदि
खंड 08	हिंदू धर्म की पहेलियां
खंड 09	अस्पृश्यता अथवा भारत में बहिष्कृत बस्तियों के प्राणी
खंड 10	अस्पृश्य का विद्रोह, गांधी और उनका अनशन, पूना पैक्ट
खंड 11	ईस्ट इंडिया कंपनी का प्रशासन और वित्त प्रबंध
खंड 12	रुपये की समस्या : इसका उद्‌भव और समाधान
खंड 13	शूद्र कौन थे
खंड 14	अछूत कौन थे और वे अछूत कैसे बने
खंड 15	पाकिस्तान अथवा भारत का विभाजन
खंड 16	कांग्रेस एवं गांधी ने अस्पृश्यों के लिए क्या किया
खंड 17	गांधी एवं अछूतों का उद्धार
खंड 18	डॉ. अम्बेडकर – सेंट्रल लेजिस्लेटिव काउंसिल में
खंड 19	अनुसूचित जातियों की शिकायतें तथा सत्ता हस्तांतरण संबंधी महत्त्वपूर्ण पत्र–व्यवहार आदि
खंड 20	डॉ. अम्बेडकर – केंद्रीय विधानसभा में (1)
खंड 21	डॉ. अम्बेडकर – केंद्रीय विधानसभा में (2)

ISBN (सेट) : 978-93-5109-149-3
सामान्य (पेपरबैक) खंड 01-21
के 1 सेट का मूल्य :

प्रकाशक :
डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान
15, जनपथ
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय
भारत सरकार, नई दिल्ली – 110 001
फोन : 011–23320588, 23320571
जनसंपर्क अधिकारी मोबाईल नं. 85880–38789
वेबसाइट : http://drambedkarwritings.gov.in
ईमेल : cwbadaf17@gmail.com

ISBN 978-93-5109-163-9
9 789351 091639